गीता-सार

जनार्दन भट्ट, एम० ए०

गीता-सार

जनार्दन भट्ट, एम० ए०

प्रकाशक :
अखिल भारतीय आर्य (हिन्दू) धर्म सेवा संघ,
पो० सेवासंघ, २५ मल्कागंज रोड,
जवाहर नगर, दिल्ली-७

आठवाँ संस्करण ४०००
सं० २०२६ वि०
मूल्य ६२ पैसे

मुद्रकः
राधा प्रेस
गान्धी नगर, दिल्ली-३१

भूमिका

गीता का अमर उपदेश

श्री मद्भगवद्गीता भारतीय साहित्य का एक अमर ग्रंथ है। इसमें अध्यात्म-विद्या के गूढ़ तत्वों की व्याख्या अत्यन्त विशद और सरल शैली में की गई है। यह महान् ग्रन्थ भक्ति और ज्ञान के समन्वय द्वारा निष्काम कर्म का निर्देश करता हुआ संसार मात्र के लिए एक अनोखा उपदेश है। अतएव गीता के समान गंभीर परन्तु सरल, हृदय तथा मस्तिष्क दोनों पर समान प्रभाव डालने वाला, चित्त को प्रफुल्लित करने वाला, आत्मा को शांति देने वाला दूसरा कोई ग्रंथ संस्कृत साहित्य में क्या, समस्त संसार के साहित्य में दुर्लभ है। केवल काव्य की दृष्टि से देखा जाय तो उसकी गिनती उत्तम काव्यों में की जा सकती है। जिस ग्रंथ में समस्त वैदिक धर्म का सार स्वयं कृष्ण भगवान् ने अपने श्रीमुख से कहा हो, उसका महत्व कौन वर्णन कर सकता है? किसी ने ठीक ही कहा है :—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

जितने उपनिषद् हैं—सब गौ हैं, कृष्ण भगवान् स्वयं दूध दुहने वाले ग्वाल हैं, बुद्धिमान् अर्जुन गौ के बछड़े के समान हैं और जो दूध दूहा गया वही मधुर गीता का उपदेश है। अतएव कोई आश्चर्य नहीं कि इस महान् ग्रन्थ का अनुवाद न केवल भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में, अपितु ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेज़ी, फारसी आदि संसार की अनेक भाषाओं में विद्यमान है।

गीता आर्य (हिन्दू) जाति की परमोत्तम तथा चिरस्थायी विभूति

है। यदि हिन्दू धर्म के समस्त ग्रन्थ लोप होकर केवल गीता ही बच रहे तब भी हिन्दू धर्म का महत्त्व संसार में अमिट रह सकता है। गीता हमें बिना फल की कामना किये हुए निष्काम कर्म की शिक्षा देती है। गीता हमें मनुष्य-प्रेम, समता तथा भ्रातृभाव का परमोदार तथा व्यापक उपदेश देती है। गीता हमें अपनी इन्द्रियों को वश में करके संसार के सुख-दुखों को, सम भाव से बिना किसी प्रकार विचलित हुए, भोगने की क्षमता प्रदान करती है। गीता का उपदेश युवा तथा वृद्ध, स्त्री तथा पुरुष, गृहस्थ तथा संन्यासी, संसार के झंझटों में फंसे हुए तथा संसार के व्यापारों से विरक्त—सब प्राणियों के लिए समान रूप से लाभकारी है। गीता का उपदेश किसी एक काल, एक जाति, एक संप्रदाय तथा एक मत के लिए नहीं, वरन् सब काल, सब जाति तथा सब संप्रदाय के मनुष्यों के लिए समान रूप से हितकर है।

गीता में कर्म के द्वारा भगवान् की प्राप्ति का एक अनोखा मार्ग दिखाया गया है। गीता में यह सिद्ध किया गया है कि प्रत्येक मनुष्य का यह धर्म है कि जो भी कर्तव्य उसके हिस्से में पड़े, उसे वह सच्ची लगन के साथ पूरा करता रहे। गीता हमें यह भी शिक्षा देती है कि कोई भी कर्तव्य स्वयं ऊंच या नीच नहीं है। समाज के अस्तित्व की रक्षा तथा उन्नति के लिए सभी कर्तव्य अपने अपने स्थान पर समान महत्व रखते हैं। छोटा से छोटा कर्तव्य भी यदि उचित रीति से पालन किया जाय तो समाज को लाभ पहुँचाने वाला है। गीता हमें यह भी बताती है कि यदि हम अपना कर्तव्य कर्म, श्रद्धा और विश्वास के साथ, स्वार्थ-रहित होकर, सामाजिक हित की भावना से पालन करेंगे, तो उसका परिणाम व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए हितकर होगा। संसार में कोई भी कर्म ऐसा नहीं है जो सर्वथा निर्दोष हो, परन्तु यदि हम निष्काम भाव से उस कर्म को करते हैं तो उसके गुण-दोष से मुक्त रहते हैं। गीता का सबसे महान् उपदेश यही है कि हम जो भी कार्य करें उसे स्वार्थ भावना से नहीं, वरन् सामाजिक हित

की भावना से प्रेरित होकर करें। यही निष्काम भाव से समाज की सेवा भगवान् की सबसे बड़ी पूजा है। गीता का यह उपदेश केवल भारतवर्ष के लिए ही नहीं, वरन समस्त संसार तथा सब जातियों के लिए समान है। गीता हमें रीति-रिवाजों, रूढ़ियों तथा धर्म के ऊपरी ढोंगों की शिक्षा नहीं देती। वह हमें केवल उन सिद्धान्तों की शिक्षा देती है जिनके अनुसार चलकर किसी भी देश का मनुष्य अपने जीवन के सर्वोच्च ध्येय तक पहुँच सकता है। सारांश में, गीता का उपदेश निरुत्साहित को उत्साहित करने वाला, आशा से रहित हृदयों में आशा का संचार करने वाला, कायरों को वीर बनाने वाला तथा आलसियों को स्फूर्ति देने वाला है। वर्तमान में अनेक बन्धनों में जकड़ी हुई हिन्दू जाति के लिए तो निस्संदेह वह संजीवनी बूटी के समान है।

संसार में मिस्री, ईरानी, यूनानी आदि अनेक सभ्यतायें आयीं और लोप हो गयीं। मध्य एशिया की लुटेरी जातियों ने इस्लाम का झंडा लेकर, न जाने कितनी जातियों और सभ्यताओं को तलवार के बल से चकनाचूर कर दिया; यहाँ तक कि उनका चिन्ह भी अब शेष नहीं रहा। परन्तु इस्लाम के प्रबल आक्रमण से हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म और हिन्दू सभ्यता नष्ट नहीं हुई, अब भी जीती-जागती विद्यमान है। इसका प्रधान कारण गीता का वही अजर और अमर उपदेश है, जो सदा हिन्दू जाति को निष्काम कर्म की ओर प्रेरित करता रहा और जिसकी भावना से प्रेरित होकर भगवान् बुद्ध, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, अशोक, शंकराचार्य, विक्रमादित्य, नानक, गुरु गोविन्द सिंह, समर्थ रामदास, छत्रपति शिवाजी, स्वामी दयानन्द, महात्मा गांधी आदि महान् नर-रत्न समय समय पर हिन्दू जाति को मार्ग-निर्देश करते रहे हैं। निस्सन्देह जब तक गीता अमर है, तब तक हिन्दू जाति भी अमर रहेगी।

इसी गीता के अमर उपदेशों का सार इस पुस्तक में अंकित करने

की चेष्टा की गयी है। इस पुस्तक के लिखने में प्रातः-स्मरणीय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के गीता-रहस्य से जो सहायता प्राप्त हुई है उसके लिए उक्त ग्रन्थ के प्रकाशकों के प्रति अपना कृतज्ञतापूर्ण आभार प्रगट करते हैं।

—लेखक

विषय-सूची

विषय　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　पृष्ठ

ओ३म्

१

अर्जुन का विषाद

कुरुक्षेत्र की रणभूमि सामने है। कौरवों और पांडवों की सेनाएं युद्ध के लिए सन्नद्ध एक दूसरे के सामने खड़ी हैं; युद्ध प्रारम्भ होने ही वाला है। ऐसे संकीर्ण और गम्भीर समय में अपने चाचा, मामा, ताऊ, भाई, पुत्र, गुरु, आचार्य आदि को मरने-मारने के लिए एक दूसरे के सामने खड़े देख कर, सहसा अर्जुन के हृदय में शोक, मोह, और विषाद उत्पन्न हो जाता है। वह सोचता है कि क्या राज्य के लिए, संसार के सुखों के लिए, इनसे लड़ना, इनको मारना, हमारा धर्म है ? इस असमंजस की दशा में वह भगवान् कृष्ण से कहता है:—

"भगवान्, युद्ध करने की इच्छा से खड़े हुए इन स्वजनों को देख कर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं, मेरा मन चक्कर खा रहा है, मेरे हाथ से शस्त्र छूट रहा है। मुझे न राज्य चाहिये, न सुख। जिनके लिये राज्य और सुख की इच्छा करनी थी, वे ही अपने जीवन और सम्पत्ति की आशा से हाथ धो कर, आज मरने-मारने के लिए तैयार खड़े हैं। हे मधुसूदन, तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मैं इन्हें मारने के लिये तैयार नहीं हूँ, फिर पृथ्वी के राज्य की तो बात ही न्यारी है। हे माधव, अपने ही स्वजनों को मार कर हमें क्या सुख मिलेगा ? कुल-क्षय से जो हानि होगी, उसे मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। इनसे लड़ने की अपेक्षा अधिक अच्छा है कि मैं शस्त्रों को त्याग कर, प्रतिकार की भावना को छोड़ दूं, और ये शस्त्र धारी कौरव मेरा वध कर डालें। इस लोक में भीख माँगकर, पेट पाल

लेना अच्छा है, परन्तु इन लोगों को मार कर इस संसार में इन के रक्त से सने हुए भोगों को भोगना मुझे स्वीकार नहीं है। मेरा चित्त इस समय काम नहीं कर रहा है। मुझे कुछ सूझ नहीं पड़ता कि मैं क्या करुँ। हम जय प्राप्त करें या वे हम पर विजय प्राप्त करें, दोनों बातों में श्रेयस्कर क्या है, यह मेरी समझ में नहीं आता। मैं मोहावस्था में हूँ, मुझे अपना कर्त्तव्य-पथ नहीं दीख रहा है। भगवन्, ऐसी विषम परि-स्थिति में मेरा कर्त्तव्य-मार्ग क्या है, मुझे बताइये!"

इस प्रकार शस्त्र को त्याग कर और मोह के वशीभूत होकर, शोक-संतप्त अर्जुन अपने रथ में एक ओर बैठ गया। ऐसी अवस्था में श्री भगवान् ने अर्जुन की कायरता और मोहावस्था को दूर करने के लिए और उसे उस का कर्त्तव्य-मार्ग दिखाने के लिए गीता में जो अमृत-समान उपदेश दिया है, उसी को सार-रूप से इस पुस्तक में आगे प्रस्तुत किया गया है।

वास्तव में अर्जुन तो केवल एक निमित्त और प्रतीक-मात्र है। प्रत्येक मनुष्य का जीवन एक रणक्षेत्र है। इस जीवन के रणक्षेत्र में प्रत्येक मनुष्य अर्जुन है। प्रत्येक मनुष्य के सामने ऐसे अवसर आते हैं, ऐसी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, जब उसे अपने कर्त्तव्य-मार्ग का पता नहीं चलता, वह यह निश्चय करने में असमर्थ होता है कि मैं यह कार्य करूँ या न करूँ, अमुक मार्ग पर चलूँ या न चलूँ। जिस प्रकार महा-भारत के रणक्षेत्र में गीता ने अर्जुन को अपना कर्त्तव्य-मार्ग ढूंढ़ने में दीपक का काम दिया था, उसी प्रकार जीवन के रणक्षेत्र में भी गीता का अमर उपदेश मनुष्य मात्र के लिये अपना कर्त्तव्य-मार्ग ढूंढ़ने में देदीप्यमान दीपक का काम दे सकता है।

———

२

आत्मा अमर है

जब युद्धभूमि में अर्जुन मोह और विषाद में डूब कर कायर की भाँति, अपने क्षत्रियोचित कर्त्तव्य-युद्ध से विरत हो गया और यह कह कर उसने शस्त्र डाल दिया कि मैं इन अपने स्वजनों को, चाहे वे आततायी ही क्यों न हों, कैसे मारूँ, तो उस समय भगवान् उसे धर्म-युद्ध के लिए प्रेरित करते हुए बोले:—

"अर्जुन, तू किस को मारने वाला तथा मरने वाला कहता है ? मनुष्य केवल देहरूपी वस्तु ही नहीं है। वह देह और आत्मा का मिला हुआ समुच्चय है। इसमें देह तो नाशवान् पदार्थ है। परन्तु देह के मरने पर आत्मा मरता नहीं है। आत्मा तो नित्य, अमर और अविनाशी है। आत्मा कल था, आज है और सदा रहेगा। अतएव आत्मा न तो मरता है और न मारा जा सकता है। रह गया शरीर, सो वह तो प्रकट है कि अनित्य और प्रतिक्षण नाशवान् है। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो १०० वर्ष पश्चात् अवश्य ही नष्ट होने वाला है और एक शरीर छूट भी गया तो कर्म-अनुसार दूसरा शरीर अवश्य मिलने वाला है। मृत्यु पर शोक करना व्यर्थ और मूर्खता है। मृत्यु के समय प्राणी अपने शरीर को उसी प्रकार छोड़ देता है, जिस प्रकार कोई अपने पुराने कपड़े को उतारकर फेंक देता है। ऐसी अवस्था में केवल शरीर के मोह से, अपने धर्म या कर्त्तव्य-पथ से विचलित होना मनुष्य को शोभा नहीं देता। देश और जाति के प्रति अपने कर्तव्यों को पालन करते हुए मनुष्य को मरने या मारने से कोई पाप या हिंसा का दोष नहीं लगता।

इसी सिद्धांत के प्रतिपादन करने वाले गीता के निम्नलिखित श्लोक हैं:—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।

२—१३

जिस प्रकार देह धारण करने वाले को इस देह में बालपन, यौवन और बुढ़ापा आता है, उसी प्रकार आगे दूसरी देह प्राप्त हुआ करती है। इसलिये इस विषय में तत्त्व का जानने वाला ज्ञानी पुरुष मोह को नहीं प्राप्त होता।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।

२—१९

जो शरीर के स्वामी या आत्मा को ही जो मारने वाला मानता है या ऐसा समझता है कि वह मारा जाता है, उन दोनों को ही सच्चा ज्ञान नहीं है; क्योंकि यह आत्मा न तो मरता है और न ही मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।

२—२०

यह आत्मा न तो कभी जन्मता है और न मरता ही है; ऐसा भी नहीं है कि एक बार होकर फिर होने का नहीं; और यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है; और शरीर का वध हो जाय तो भी यह मारा नहीं जाता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

२—२२

जिस प्रकार कोई मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार देही अर्थात् शरीर का स्वामी आत्मा पुराना शरीर त्याग कर दूसरा नया शरीर धारण करता है ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।

२—२३

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकता ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।

२—३०

सब के शरीर में रहने वाला आत्मा सदा अवध्य अर्थात् कभी भी वध न किया जाने वाला है, अतएव हे अर्जुन ! किसी भी प्राणी के विषय में शोक करना उचित नहीं है ।

———

३

निष्काम-कर्म

फल की आशा छोड़कर, अर्थात् फल मिले या न मिले, अमुक कार्य हमारा धर्म या कर्त्तव्य है, इस बुद्धि से किसी कर्म में लगे रहने को निष्काम कर्म कहते हैं। जो मनुष्य निष्काम कर्म की बुद्धि से अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, वह संसार के सुख-दुख, राग-द्वेष, हर्ष-विषाद आदि द्वन्द्वों से मुक्त रहता है। गीता में भगवान् ने कहा है कि कोई मनुष्य बिना कर्म किये एक क्षण भी नहीं रह सकता। यदि कर्म न किया जाय तो संसार का कार्य भी नहीं चल सकता। अतएव प्रत्येक मनुष्य को कर्म तो करना ही पड़ता है। परन्तु कर्म करते समय कोई मनुष्य स्वार्थबुद्धि छोड़कर, केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से कार्य करे और सुख-दुख, हर्ष-विषाद, सफलता और विफलता में चित्त की वृत्ति को एक सा रखे, तो ऐसा मनुष्य कर्मयोगी गिना जाता है। ऐसा निष्काम कर्मयोगी अन्त में निरन्तर ध्यान, प्रार्थना, यम-नियम का अभ्यास करता हुआ, अपने को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को अपने में देखने लगता है।

गीता का निष्काम कर्म संसार की आधि-व्याधियों और बन्धनों के बीच आशक्ति-रहित जीवन व्यतीत करना है। निष्काम कर्म के लिए सच्चे त्याग की आवश्यकता है। परन्तु त्याग हमें कर्म का नहीं, वरन् अपनी स्वार्थजनित इच्छाओं तथा वासनाओं का करना है। हमें अपने कार्यों और चेष्टाओं को स्वार्थ की प्रवृत्ति से अलग रखना चाहिये। कार्य को केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से करना चाहिये। उस का फल क्या होगा,

इस विचार से हमारे चित्त की शान्ति कभी क्षुब्ध नहीं होनी चाहिये। प्रत्येक दिन के कार्यों में भी जब हम इसी प्रकार से आचरण करेंगे, तभी निःस्वार्थ और निष्काम भावना से किया हुआ हमारा कर्म वासना से रहित होगा। वासना से रहित हो कर किया गया कर्म अपने पीछे कोई संस्कार नहीं छोड़ेगा और जब संस्कार पीछे नही रहेंगे तो मनुष्य का आत्मा पुनर्जन्म के चक्कर से छूट कर मोक्ष का अधिकारी स्वयं हो जायगा। गीता में इसी निष्काम कर्म की व्याख्या निम्न श्लोकों में की गयी है :—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।

२—४७

कर्म करने मात्र का तेरा अधिकार है, फल मिलना या न मिलना कभी भी तेरे अधिकार में नहीं है, इसलिए मेरे कर्म का अमुक फल मिले यह हेतु मन में रख कर काम करने वाला मत हो, और कर्म न करने का भी आग्रह तू न कर।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।

२—४८

हे धनंजय ! आसक्ति छोड़ कर और कर्म की सिद्धि हो या न हो दोनों को समान मानकर, योगस्थ हो करके कर्म कर। कर्म की सिद्धि हो या न हो दोनों अवस्था में समत्व या समता की मनोवृत्ति को ही कर्म-योग कहते हैं।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।

२—४९

इस समत्वरूप बुद्धियोग की अपेक्षा सकाम कर्म अत्यन्त तुच्छ है, इसलिये हे धनंजय ! समत्व बुद्धियोग का आश्रय ग्रहण कर, क्योंकि फल की दृष्टि से काम करने वाले अत्यन्त हीन या नीचे दर्जे के हैं ।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।

२—५०

जो साम्य बुद्धि से युक्त हो जाता है, वह इस लोक में पाप और पुण्य दोनों से अलिप्त रहता है । अतएव योग का आश्रय लेकर पाप-पुण्य से बचकर कर्म करने की कुशलता या युक्ति को ही कर्मयोग कहते हैं ।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।

२—५१

क्योंकि, जो बुद्धियोगयुक्त ज्ञानी लोग कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल का त्याग करते हैं, वे जन्मरूपी बन्धन से छूट कर निर्दोष अर्थात् अमृतमय पद को प्राप्त होते हैं ।

———

४

स्थितप्रज्ञ किसे कहते हैं

जो मनुष्य केवल फल की आशा से प्रेरित होकर कर्म करता है, उसकी बुद्धि चंचल रहती है और उसको सुख-दु;ख की भावनाएँ विशेष सताती रहती हैं। उसकी बुद्धि कभी स्थिर नहीं रह सकती। अतएव कर्म को न छोड़ कर और फल की आशा न रखते हुए, केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से निःसंग या अनासक्त होकर जो अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, उसे ही स्थितप्रज्ञ कहते हैं। स्थितप्रज्ञ की व्याख्या निम्न-लिखित गीता के श्लोकों में बहुत सुन्दर रीति से की गयी है। पूज्य महात्मा गांधी को यह श्लोक अत्यन्त प्रिय थे और इनका पाठ प्रति दिन महात्मा जी की प्रार्थना के समय होता था :—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

२—२५

हे पार्थ ! जब मनुष्य अपने मन के समस्त काम अर्थात् वासनाओं को छोड़ देता है, और अपने आप में ही सन्तुष्ट रहता है, तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

२—५६

दुःख में जिसके मन को खेद नहीं होता, सुख में जिसकी आसक्ति नहीं रहती और प्रीति, भय तथा क्रोध जिससे दूर हो गये हैं, उसको स्थित-प्रज्ञ मुनि कहते हैं।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

२—५७

जो पुरुष स्नेहरहित होकर उन शुभ तथा अशुभ वस्तुओं को प्राप्त करके न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, तव उसकी बुद्धि स्थिर होती है ।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य . प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

२—५८

जिस प्रकार कछुवा अपने हाथ-पैर आदि अंगों को सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के शव्द, स्पर्श आदि विषयों से अपनी इन्द्रयों को खींच लेता है, तब कहना चाहिये कि उसकी बुद्धि स्थिर हुई ।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।

२—६०

इन्द्रियों का दमन करने के लिये प्रयत्न करने वाले विद्वान् के भी मन को, हे कुन्तीपुत्र ! प्रबल इन्द्रियाँ बलपूर्वक मनमानी दिशा में ले जाती हैं ।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

२—६१

अतएव, इन सब इन्द्रियों को वश में करके युक्त अर्थात् योगयुक्त और मत्परायण होकर रहना चाहिये। इस प्रकार जिसकी इन्द्रियां अपने आधीन हो जायें तो कहना चाहिये कि उसकी बुद्धि स्थिर हो गयी।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

२—६२

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष का इन विषयों में संग बढ़ता जाता है। फिर इस संग से वासना उत्पन्न होती है कि हमको वह काम अर्थात् विषय प्राप्त हो, और उस काम की तृप्ति होने में विघ्न होने से काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

२—६३

क्रोध से संमोह अर्थात् अविवेक होता है, संमोह से स्मृति-विभ्रम, स्मृति-विभ्रम से बुद्धि का नाश और बुद्धि के नाश से मनुष्य का सब कुछ नाश हो जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

२—६४

परन्तु अपना आत्मा जिसके वश में है, वह पुरुष प्रीति और द्वेष से रहित हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों से विषयों में वर्ताव करके भी चित्त में प्रसन्न रहता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।

२—६५

चित्त प्रसन्न होने से उनके सब दुःखों का नाश हो जाता है क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न है उसकी बुद्धि भी शीघ्र स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।

२—६६

जो पुरुष उक्त रीति से योग-युक्त नहीं हुआ, उसमें स्थिर बुद्धि और भावना अर्थात् दृढ़ बुद्धि रूपी निष्ठा भी नहीं रहती। जिसे भावना नहीं, उसे शान्ति नहीं मिलती और जिसे शांति नहीं, उसे सुख कहाँ ?

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

२—६८

अतएव हे महाबाहु अर्जुन ! इन्द्रियों के विषयों से जिसकी इन्द्रियाँ चारो ओर से हटी हुई हों तब कहना चाहिये कि उसकी बुद्धि स्थिर हुई।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

२—६९

सब लोगों की जो रात है उसमें स्थितप्रज्ञ जागता रहता है और जब समस्त प्राणी जागते रहते हैं तब ज्ञानवान् पुरुष के लिये रात होती है, अर्थात् जहाँ अन्य लोग अज्ञान के अन्धकार में पड़े हुए अपना कर्त्तव्य-मार्ग नहीं देख सकते, वहाँ ज्ञानी पुरुष ज्ञान के प्रकाश में अपना मार्ग तत्काल देख लेता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

२—७०

चारों ओर से पानी भर जाने पर भी जिसकी मर्यादा नहीं विचलित होती, ऐसे समुद्र में जिस प्रकार सब पानी समा जाता है, उसी प्रकार जिस पुरुष में समस्त विषय उसकी शांति भंग किये बिना ही प्रवेश करते हैं, उसे ही सच्ची शांति मिलती है; विषयों की इच्छा करने वाले को यह शांति नहीं मिलती है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमाँश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

२—७१

जो पुरुष सब काम अर्थात् आसक्ति छोड़कर और निस्पृह हो करके संसार में बर्तता है और जिसे ममत्व और अहंकार नहीं होता, उसे शांति मिलती है।

५

कर्मयोग

देह और देही, शरीर और आत्मा का वही सम्बन्ध है, जो घर और घर के मालिक का है। पूर्व जन्म में मनुष्य जैसा कर्म करता है उसके अनुसार ही वह दूसरे जन्म में शरीर धारण करता है या देह-रूपी घर उसको रहने के लिये मिलता है। मृत्यु होने पर जब आत्मा इस शरीर रूपी घर को छोड़ देता है, तो जो-जो कर्म उसने किये हैं तथा जो संचित होते रहते हैं, उनसे उत्पन्न होने वाले भिन्न-भिन्न संस्कारों के समूह को वह अपने साथ लेता जाता है। उन संस्कारों के अनुसार ही दूसरे जन्म में फिर एक नयी जीवन-यात्रा उसे आरम्भ करनी पड़ती है। आत्मा अपने संस्कारों के समूह को उसी प्रकार अदृश्य रूप से ले जाता है, जिस प्रकार यह वायु किसी उपवन से बहता हुआ, अनेक पुष्पों की सुगन्ध को अदृश्य रूप से अपने साथ बहा ले जाता है। मनुष्य के आत्मा का विकास उसके कर्मों के अनुसार ही होता है। यह विकास मृत्यु से समाप्त नहीं हो जाता। जिस तरह बहीखाता में एक वर्ष समाप्त होने पर वर्ष का बाकी रोकड़ टन कर दूसरी बही में चला जाता है, उसी तरह मनुष्य के एक जन्म के कर्मों के संस्कार टन कर दूसरे जन्म में चले जाते हैं।

यदि हम एक छोटी सी कंकरी किसी तालाब में फेंकते हैं तो उससे अनेक तरंगें पैदा होती हैं, जो एक-दूसरे से टकराती और मिलती हुई तालाब के अन्त तक पहुँच जाती हैं। उसी प्रकार जो कार्य हम करते हैं और जो विचार हम सोचते हैं, उनका भी अच्छा या बुरा प्रभाव संसार

में होता है और उससे अच्छा या बुरा फल उत्पन्न होता है। अस्तु, हमारे कार्यों, विचारों और चेष्टाओं का प्रभाव बाहरी संसार पर पड़ता हो या न पड़ता हो, परन्तु उनका प्रभाव स्वयं हमारे आत्मा पर अवश्य पड़ता है। हमारे कर्मों के अनुसार ही हमारा आत्मा उन्नति या अवनति की ओर अग्रसर होता है, अच्छा या बुरा बनता है। इस तरह मृत्यु के समय जो भावनाएँ, जो विचार, जो संस्कार और जो आचरण हमारे रहेंगे, वही मृत्यु के समय हमारी पूँजी होगी और उसी पूँजी को लेकर हम दूसरे जन्म का जीवन-व्यापार प्रारम्भ करेंगे।

बहुत से मनुष्य यह सोचते हैं कि कर्म प्राणी को संसार के आवागमन, सुख-दुःख और राग-द्वेष के चक्कर में फंसाने वाला है। उस चक्कर से छूटने के लिये कर्म का ही सर्वथा त्याग कर देना हमारी आत्मिक उन्नति और संसार से मुक्ति पाने के लिये एकमात्र उपाय है, परन्तु ऐसे लोग भ्रम में हैं, क्योंकि जब तक मनुष्य इस संसार में है, तब तक कर्म से छुटकारा पाना उसके लिये असम्भव है। कर्म किये बिना मनुष्य एक क्षण भी नहीं रह सकता। यद्यपि यह ठीक है कि कर्म मनुष्य को संसार के बन्धनों में डालने वाले हैं और उन से सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि चित्त को क्षुब्ध करने वाले विकार भी उत्पन्न होते हैं, परन्तु इसके लिये कर्म को छोड़ देना मुक्ति का मार्ग नहीं है। मुक्ति का मार्ग है कर्म से उत्पन्न होने वाले फल की इच्छा को त्याग कर अपने आत्मा को विकार-रहित बनाना। इस के लिये पारे का उदाहरण सटीक है। जिस प्रकार पारे का उपयोग करने के पहले उसे मार कर वैद्य लोग शुद्ध कर लेते हैं, उसी प्रकार मन के विकारों और दुर्वासनाओं को मार कर पहले हमें अपने मन को शुद्ध कर लेना चाहिये। तभी कर्म से उत्पन्न होने वाले संस्कार हमें बन्धन में डालने में समर्थ नहीं होंगे। इस प्रकार कर्म करने की स्थिति को 'नैष्कर्म्य' कहते हैं। 'नैष्कर्म्य'

अथवा फल की ओर उदासीन होकर कर्म करने का ही दूसरा नाम कर्म-योग है। इसी कर्म-योग का विवेचन गीता के निम्न श्लोकों में अत्यन्त विशद रूप से किया गया है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरूषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

३—४

कर्मों का प्रारम्भ करने से ही मनुष्य को नैष्कर्म्य की प्राप्ति नहीं हो जाती और कर्मों का त्याग करने से ही सिद्धि नहीं मिल जाती है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

३—६

इसलिये जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठ से रोक कर इन्द्रियों के विषयों का मन से चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

३—७

हे अर्जुन! उसकी योग्यता विशेष अर्थात् श्रेष्ठ है, जो मन से इन्द्रियों का नियमन करके केवल कर्मेन्द्रियों द्वारा अनासक्त बुद्धि से कर्म-योग करता रहता है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरूषः॥

३—१९

इससे तू भी फलों की आसक्ति छोड़ कर अपना कर्त्तव्य कर्म सदैव कर, क्योंकि आसक्ति छोड़कर कर्म करने वाला मनुष्य परम गति को प्राप्त होता है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

३—२१

श्रेष्ठ अर्थात् कर्मयोगी पुरुष जो कुछ करता है, वही अन्य अर्थात् साधारण मनुष्य भी करते हैं। वह जिसे प्रमाण मानकर अंगीकार करता है, लोग उसी का अनुसरण करते हैं।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

३—२५

हे अर्जुन, लोक-संग्रह करने की इच्छा रखने वाले ज्ञानी पुरुष को आसक्ति त्याग कर उसी प्रकार वर्तना चाहिये, जिस प्रकार कि सांसारिक कार्यों में आसक्त अज्ञानी लोग वर्तते हैं।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

३—३०

अतएव हे अर्जुन ! अध्यात्म-बुद्धि से सब कर्मों का संन्यास अर्थात् अर्पण मुझ में करके और फल की आशा तथा मोह छोड़ कर, तू निश्चिन्त होकर युद्ध कर।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

३—३४

इन्द्रियों और उनके शब्द-स्पर्श आदि विषयों में राग तथा द्वेष दोनों व्यवस्थित अर्थात् स्वभावतः निश्चित हैं। राग और द्वेष के वश में न जाना चाहिये, क्योंकि ये मनुष्य के शत्रु हैं।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

३—३५

पराये धर्म का आचरण सुख से करते बने तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् अपना निश्चित कर्त्तव्य कर्म अधिक श्रेयस्कर है, फिर चाहे वह गुण-रहित अथवा दोष-सहित क्यों न हो। अपने धर्म के पालन में मृत्यु हो जाय तो भी उसमें कल्याण है, परन्तु परधर्म तो भय का देने वाला होता है।

६

भगवान् कब अवतार लेते हैं

कर्म किसी से छूटता नहीं, इसीलिए निष्काम-बुद्धि हो जाने पर भी मनुष्य को कर्म करना ही पड़ता है। आदिकाल से लेकर इस समय तक कोई ऐसा मनुष्य, ऐसा महापुरुष, महात्मा या योगी नहीं हुआ है जो कर्म करने से सर्वथा मुक्त रहा हो। यह कर्म-योग की परम्परा अनन्त काल से चली आ रही है। और तो और, साक्षात् भगवान् को समय-समय पर 'लोक-संग्रह' अर्थात् कर्मयोग की मर्यादा को यथावत् स्थापित रखने और दुष्टों तथा आततायियों का दमन करने के लिए, संसार में अवतार लेकर कर्म करना पड़ता है। भगवान् कब अवतार लेते हैं इसका निर्देश गीता के निम्न श्लोकों में है :—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

४—७

हे भारत! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की प्रबलता हो जाती है, तब-तब मैं स्वयं ही जन्म लिया करता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

४—८

साधुओं की रक्षा के लिए और दुष्टों का विनाश करने के लिए तथा युग-युग में धर्म की स्थापना के लिए मैं अवतार धारण करता हूँ ।

७

चार वर्णों की सृष्टि गुणकर्मानुसार

आजकल का जन्ममूलक जातपाँत का भेद उस 'लोकसंग्रह' या समाज-हित के विरुद्ध है, जिसके लिए समय-समय पर स्वयं भगवान् को भी इस संसार में अवतार लेना पड़ता है। जब किसी समाज के लोग जन्म के आधार पर अपने को छोटा या बड़ा, ऊँच या नीच, मानने लगते हैं, तब समाज आपस की फूट, उतराचढ़ी, ईर्ष्या-द्वेष और पारस्परिक कलह का अखाड़ा बन जाता है। उस दशा में अनेक सामाजिक रोगों और बुराइयों से जर्जरित होकर देश या जाति पतनावस्था को प्राप्त होने लगती है। हिन्दू-जाति इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। अतएव भगवान् ने गीता में चार वर्णों की सृष्टि जन्म के आधार पर नहीं, वरन् गुणकर्म के आधार पर निर्दिष्ट की है। गीता के निम्न श्लोक में गुण-कर्मानुसार ही चार वर्णों के विभाजन का उल्लेख मिलता है :—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

४—१३

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों की व्यवस्था गुण और कर्म अनुसार मैंने निर्माण की है। इसे तू ध्यान में रख कि मैं उसका कर्त्ता भी हूँ और आसक्ति-रहित होने से अकर्त्ता अर्थात् उसे न करने वाला अव्यय (परमेश्वर) भी मैं ही हूँ।

सच्चा ज्ञानी कौन है

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, करने योग्य क्या है और न करने योग्य क्या है, इस विषय में बड़े-बड़े विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है। जो कर्म-अकर्म के भेद को पूरी तरह जानता है और निष्काम-बुद्धि से संसार के सब कर्त्तव्यों का यथावत् पालन करता है, जिसके सब कार्य कामना और फलाशा से रहित हैं और जिसने अपने सब कर्मों को ज्ञान की अग्नि में भस्म कर दिया है, उसी को सच्चा ज्ञानी कहते हैं। ऐसे ज्ञानी पुरुष को कर्म के बन्धन जकड़ने में समर्थ नहीं होते। इसी बात का प्रतिपादन गीता के निम्न श्लोकों में है :—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

४—१८

जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वह पुरुष सब मनुष्यों में ज्ञानी और वही योग-युक्त और समस्त कर्म का करने वाला है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः॥

४— १९

हे अर्जुन ! जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्प से रहित हैं,

ऐसे ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा भस्म हुए कर्मों वाले पुरुष को ज्ञानी लोग पंडित कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥

४—२०

जो पुरुष, सांसारिक आश्रय से रहित, सदा परमानन्द परमात्मा में तृप्त रहता है, वह कर्मों के फल और उस में आसक्ति त्याग कर, कर्म को करता हुआ भी कुछ नहीं करता है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

४—२१

जिसने अन्तःकरण और शरीर को जीत लिया है तथा सम्पूर्ण भोगों की सामग्री जिसने त्याग दी है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म-करता हुआ भी पाप को नहीं प्राप्त होता है।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते॥

४—२२

आप ही आप प्राप्त हो जाय उससे सन्तुष्ट तथा शोकादि द्वंद्वों से मुक्त, निर्मत्सर और कर्म की सिद्धि या असिद्धि को एकसा ही मानने वाला पुरुष कर्म करके भी उसके पाप-पुण्य फल से बद्ध नहीं होता है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

४—३७

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।।

४—४१

हे धनंजय ! उस आत्मज्ञानी पुरुष को कर्म बाँध नहीं सकते, जिसने कर्मयोग के द्वारा कर्म के वन्धन को त्याग दिया है और ज्ञान के द्वारा जिसके सब सन्देह दूर हो गये हैं।

६

नित्य संन्यासी कौन है

सच्चा सुख इन्द्रियों के विषय-भोग में नहीं, वरन् इन्द्रियों के दमन में है। आत्म-दमन के अभ्यास से चित्त को जो शान्ति मिलती है और उससे मनुष्य में जो अनोखे परिवर्त्तन पैदा होते हैं, उससे उस मनुष्य का आत्मा इस शरीर में रहता हुआ भी मुक्त हो जाता है। ऐसे ही मनुष्य को जीवन-मुक्त या नित्य-संन्यासी कहा जाता है। रार्जाष जनक आदि ऐसे ही जीवनमुक्त या नित्य संन्यासी थे। काम्य बुद्धि या फलाशा का त्याग करना ही सच्चा संन्यास है। संन्यास बुद्धि में होना चाहिए, न कि कर्म-त्याग की वाह्य क्रिया में। अतएव फलाशा अथवा संकल्प का त्याग कर, केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्म करने वाले को ही सच्चा या नित्य संन्यासी कहना चाहिये। नीचे के श्लोकों में ऐसे ही नित्य संन्यासी के लक्षण बताये गये हैं।

ज्ञेयः सनित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥

५—३

जो किसी से भी द्वेष नहीं करता और किसी वस्तु की भी आकांक्षा नहीं करता, उस पुरुष को कर्म करने पर भी नित्य संन्यासी समझना चाहिये, क्योंकि हे महाबाहु अर्जुन! जो सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है, वह अनायास ही कर्मों के बन्धन से छूट जाता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।

५—७

जिसने शरीर को वश में कर लिया है, जो जितेन्द्रिय और विशुद्ध अंतःकरण वाला है तथा सब प्राणियों का आत्मा ही जिसका आत्मा हो गया है, ऐसा निष्काम कर्म-योगी कर्म करता हुआ भी कर्म के पाप-पुण्य रूप फल से लिप्त नहीं होता ।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ।।

५—१०

जो मनुष्य सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण कर आसक्ति-रहित कर्म करता है, उसको उसी प्रकार पाप नहीं लगता, जिस प्रकार कि कमल के पत्ते को पानी नहीं लगता ।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।।

५—११

निष्काम कर्म-योगी केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति छोड़कर आत्म-शुद्धि के लिए कर्म करते हैं ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।।

५—१६

ज्ञान से जिनका अज्ञान नष्ट हो गया है, उनके लिए उन्हीं का ज्ञान परमार्थ-तत्त्व को सूर्य के समान प्रकाशमान कर देता है ।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥
५—१८

पंडित अर्थात् ज्ञानी लोग विद्या-विनय-युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल, सभी के विषय में समदृष्टि होते हैं ।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥
५—२०

जो पुरुष प्रिय वस्तु को प्राप्त करके हर्षित नहीं हो और अप्रिय को प्राप्त करके खिन्न न हो, ऐसा स्थिर-बुद्धि वाला, मोहरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष, परब्रह्म परमात्मा में नित्य स्थिर रहता है ।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥
५—२१

बाहर के विषयों में अर्थात् सांसारिक भोगों में जिसका मन आसक्त नहीं है, उसको ही आत्म-सुख प्राप्त होता है और वह ब्रह्मयुक्त पुरुष अक्षय सुख को प्राप्त होता है ।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुद्धः ॥
५—२२

बाह्य पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होने वाले भोगों का आदि और अन्त है, अतएव वे दुःख के ही कारण हैं । हे कौन्तेय ! उनमें ज्ञानी लोग रत नहीं होते ।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

५—२३

जो मनुष्य शरीर-नाश होने से पहले ही अर्थात् मरण-पर्यन्त काम और क्रोध से होने वाले वेग को सहन करने में समर्थ है अर्थात् काम, क्रोध को जिसने सदा के लिए जीत लिया है, वही मनुष्य इस लोक में योगी है और वही सच्चा सुखी है ।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

५—२४

जो पुरुष अन्तरात्मा में ही सुख पाता है और आत्मा में ही आराम पाता है तथा जिसे अन्तःप्रकाश मिल गया है, ऐसा कर्मयोगी मनुष्य ब्रह्मरूप हो जाता है और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥

५—२५

जिन ऋषियों की द्वन्द्व-बुद्धि छूट गयी है अर्थात् जिन्होंने इस सत्य को जान लिया है कि सब स्थानों में एक ही परमेश्वर व्याप्त है, जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, और जो आत्म-संयम करके सब प्राणियों का हित करने में रत हो गये हैं, उन्हें ब्रह्म-निर्वाण अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है ।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

५—२६

काम-क्रोध से रहित, आत्म-संयमी और आत्म-ज्ञान से युक्त यतियों को अपने पास ही रखा हुआ सा ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है, अर्थात् अनायास मुक्ति मिल जाती है।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

५—२८

जिसने इन्द्रिय, मन और बुद्धि को अपने वश में कर लिया है तथा जो इच्छा, भय और क्रोध से रहित है, ऐसा मोक्षपरायण मनुष्य सदा मुक्त ही है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

६—१

मन में फल की आशा न रखकर जो अपना कर्त्तव्य-कर्म पालन करता है, वही संन्यासी और कर्मयोगी है। निरग्नि अर्थात् अग्निहोत्र आदि कर्मों को छोड़कर अथवा अक्रिय अर्थात् कोई भी काम न करके निठल्ला बैठने वाला मनुष्य सच्चा संन्यासी और योगी नहीं है।

मनुष्य अपना उद्धार स्वयं करे

मनुष्य स्वयं अपनी चेष्टा, उद्योग और सहायता से जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी दूसरे के सहारे या सहायता से नहीं। अपने पैरों पर खड़ा होकर चलने वाला जितना चल सकता है या दौड़ सकता है, उतना वैशाखी के सहारे चलने वाला मनुष्य नहीं। संसार में जितने बड़े लोग हुए हैं, वे अपने बूते पर खड़े थे। भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को सम्बोधन करके कहा था कि "हे भिक्षुओं, तुम स्वयं अपने लिये अपना दीपक बनो, बाहरी प्रकाश के लिए दूसरों का मुंह मत ताको।" कर्मयोग की सिद्धि के लिए श्री भगवान् ने गीता में यही उपदेश दिया है :—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

६—५

मनुष्य अपना उद्धार आप ही करे, अपने आपको कभी भी गिरने न दे। क्योंकि मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र और स्वयं ही अपना शत्रु है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

६—६

जिसने अपने मन और इन्द्रियों सहित शरीर को जीत लिया है वह स्वयं अपना मित्र है और जिसने अपने आपको नहीं जीता है वह स्वयं अपने साथ शत्रु के समान बर्ताव करता है।

मनको वश में कैसे करें

कर्म करते समय फल की आशा को सर्वथा त्याग देना सरल कार्य नहीं है। इसके लिए निरन्तर अभ्यास के द्वारा मन को वश में कर, चित्त को एकाग्र रखने की आवश्यकता है। ग्रन्थों में मन को वश में करने के जितने मार्ग या उपाय बताये गये हैं, उनमें पातंजल योग-दर्शन में बताये गये योगाभ्यास की विशेष महिमा है। उक्त योगाभ्यास के लिये मनुष्य को अपने खाने-पीने, सोने-उठने आदि की हर क्रिया में नियम-पालन की आवश्यकता पड़ती है। योगाभ्यास के द्वारा मन को वश में करने का उपाय गीता में इस प्रकार दिया है :—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

६—१०

योगी अर्थात् कर्मयोगी एकान्त में अकेला रहकर चित्त और आत्मा का संयम करके किसी भी काम्य वासना को न रखकर, परिग्रह अर्थात् लोलुपता छोड़ करके निरन्तर अपने योगाभ्यास में लगा रहे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥

६—११

योगाभ्यासी पुरुष शुद्ध भूमि में अपना स्थिर आसन लगावे, जो न अति ऊंचा हो और न अति नीचा; और उस पर पहले कुशा, फिर मृगछाला और फिर वस्त्र बिछावे।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

६—१२

उस आसन पर बैठकर तथा मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिये चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करके योग का अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

६—१३

काया, शिर और गर्दन को सम करके अर्थात् सीधी रेखा में निश्चल करके स्थिर होकर, अपनी नासिका के अग्रभाग को देखकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

६—१४

ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थित होकर, भय-रहित तथा शान्त अन्तःकरण वाला और सावधान होकर मन को वश में करके मुझमें ही चित्त लगा कर, मेरे परायण हुआ स्थित होवे।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

६—१५

इस प्रकार आत्मा को निरन्तर परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ, स्वाधीन मन वाला योगी, मुझ में रहने वाली और अन्त में निर्वाण देने वाली शान्ति को प्राप्त करता है ।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

६—१६

हे अर्जुन ! यह योग न अत्यधिक खाने वाले को और न बिलकुल न खाने वाले को और न खूब सोने वाले को तथा न अत्यधिक जागरण करने वाले को सिद्ध होता है ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

६—१७

जिसका आहार-विहार नियमित है, कर्मों का आचरण यथोचित है और सोना-जागना यथायोग्य है, उसके लिए यह योग दुःख का नाश करने वाला होता है ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्चते तदा ॥

६—१८

इस प्रकार योग के प्रभाव से अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जब आत्मा में स्थित हो जाता है और जब उसे किसी भी उपभोग की इच्छा नहीं रहती, तब कहते हैं कि वह योगयुक्त हो गया ।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥

६—१९

जिस प्रकार वायु-रहित स्थान में स्थित दीपक की ज्योति निश्चल होती है, वही उपमा चित्त को संयत करके योगाभ्यास करने वाले योगी को दी जाती है।

संकल्पप्रभवान्कामाँस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।।

६—२४

संकल्प से उत्पन्न होने वाली संपूर्ण कामनाओं को निःशेषता से त्यागकर और मन के द्वारा इन्द्रियों को सब ओर से अच्छी प्रकार वश में करके—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।।

६—२५

क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ शान्ति को प्राप्त होवे तथा धैर्ययुक्त बुद्धि से मन को आत्मा में स्थिर करके और कुछ भी चिन्तन न करे।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।

६—२६

इस प्रकार से अस्थिर और चञ्चल मन जहाँ-जहाँ बाहर जाय, वहाँ वहाँ से रोककर बारम्बार उसको आत्मा में ही निरोध करे।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।।

६—२७

जिसका मन अच्छी प्रकार शान्त है, जो पापरहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे ब्रह्मभूत कर्मयोगी को अति उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

६—२८

इस प्रकार निरन्तर अपना योगाभ्यास करने वाला कर्मयोगी, पापों से छूटकर परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति रूप अनन्त आनन्द का अनुभव करता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

६—२९

इस प्रकार जिस का आत्मा योगयुक्त हो गया है, उसकी दृष्टि सम हो जाती है। वह अपने को सब प्राणियों में तथा सब प्राणियों को अपने में देखने लगता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

६—३०

जो मुझ परमात्मा को सब स्थानों में और सब को मुझ में देखता है, उससे मैं कभी अलग नहीं होता और न वह मुझसे कभी दूर होता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

६—३२

हे अर्जुन ! सुख या दुःख अपने समान औरों को भी होता है, ऐसी आत्मौपम्य दृष्टि से जो सर्वत्र देखने लगता है, वह कर्मयोगी परम श्रेष्ठ माना जाता है।

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।

६—३४

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण, यह मन चंचल, हठीला, बलवान् और दृढ़ है। अतः वायु के समान (हवा की गठरी बाँधने के समान) इसका निग्रह करना मैं अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।

६—३५

श्री भगवान् ने कहा—हे महाबाहु अर्जुन ! इस में सन्देह नहीं कि मन चंचल है और उसको वश में करना कठिन है, परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से वह वश में किया जा सकता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राय इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।।

६—३५

मेरे मत में जिसका अन्तःकरण वश में नहीं है, उसको इस साम्यबुद्धि-रूप योग का प्राप्त होना कठिन है; किन्तु अन्तःकरण को वश में रख कर प्रयत्न करने पर, उपाय से इस योग का प्राप्त होना संभव है।

१२

योगभ्रष्ट मनुष्य की क्या गति होती है

संसार में कोई अच्छा कार्य यदि सफल न भी हुआ तो भी वह समूल नष्ट नहीं हो जाता, उसका कुछ अच्छा परिणाम अवश्य निकलता है। यही सिद्धान्त योगाभ्यास या कर्मयोग के सम्बन्ध में भी लग सकता है। यदि कोई योगाभ्यासी या कर्मयोग करने वाला मनुष्य अपने योगाभ्यास या कर्मयोग में किसी कारणवश पूर्ण सफलता न भी प्राप्त करे, तो भी उस का किया हुआ प्रयास सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता। कर्मयोग से भ्रष्ट मनुष्य दूसरे जन्म में अच्छी योनि में, अच्छे कुल में या अच्छी परिस्थितियों में उत्पन्न हो कर अपने योगाभ्यास या कर्मयोग में उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ, अन्त में परमपद या मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। इस प्रकार का अधिकारी बनने में कई जन्म भी लग सकते हैं। अतएव कर्मयोग का थोड़ा सा आचरण भी, यहाँ तक कि उसकी जिज्ञासा भी सदैव कल्याण की करने वाली होती है। इस बात की पुष्टि गीता के निम्न श्लोकों में है :

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥

६—४०

हे अर्जुन ! इस लोक में तथा परलोक में भी ऐसे मनुष्य का कभी विनाश नहीं होता जो सच्चे मार्ग में लगा हुआ है। क्योंकि हे तात ! कल्याण-कारक कर्म करने वाला कोई भी मनुष्य दुर्गति को नहीं प्राप्त होता।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

६—४१

किन्तु वह कर्म-योग से भ्रष्ट मनुष्य पुण्यात्माओं के लोकों को अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होकर और उन में बहुत वर्षों तक निवास करके पवित्र श्रीमान् लोगों के घर में जन्म लेता है ।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥

६—४२

अथवा वह पुरुष ज्ञानवान् योगियों के ही कुल में जन्म लेता है । परन्तु इस प्रकार का जन्म संसार में अति दुर्लभ है ।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥

६—४३

और वह पुरुष, वहाँ उस पहले शरीर में साधन किये हुए बुद्धि के संस्कार को अनायास ही प्राप्त करता है और हे कुरुनंदन ! उसके प्रभाव से फिर और अधिक योगसिद्धि पाने का प्रयत्न करता है ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥

६—४४

और वह अपने पूर्वजन्म के उस अभ्यास से इच्छा न होते भी पूर्ण सिद्धि की ओर आकर्षित किया जाता है, क्योंकि जिसे योग की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) हो गयी है, वह भी वेद में कहे हुए सकाम कर्मों के फल का उल्लंघन कर देता है और शब्द-ब्रह्म से परे जो ब्रह्म है उस को प्राप्त कर लेता है ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

६—४५

इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक उद्योग करता हुआ तथा पापों से शुद्ध होता हुआ कर्मयोगी, अनेक जन्मों के पश्चात् सिद्धि पाकर अन्त में परम गति को प्राप्त होता है ।

१३

प्रकृति और परमेश्वर

मनुष्य का शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पांच तत्त्वों के मेल से बना हुआ एक पुतला है। इस पंचभूत- निर्मित शरीर में हाथ, पैर, वाणी गुदा और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां और आंख, नाक, कान, जीभ और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। इनके द्वारा मनुष्य सृष्टि के पंच-भौतिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है तथा शरीर के समस्त कार्यों को आवश्यकतानुसार सम्पन्न करता है। परन्तु इन्द्रियां स्वयं अपने आप कार्य करने में असमर्थ हैं। वे स्वयं अपनी इच्छा से कार्य में प्रेरित नहीं होतीं। उन्हें काम में प्रेरित करने वाली एक दूसरी इंद्रिय है जिसे मन कहते हैं और जो इन्द्रियों से परे और सबी से श्रेष्ठ तथा बलवान् है। कोई काम तब तक इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता जब तक कि उस काम के लिए मन में संकल्प या इच्छा पैदा नहीं होती। इसलिए मन को इन्द्रियों का राजा कहा है और इसीलिए कहा गया है कि 'मनःकृतं कृतं लोके न शरीरकृतं कृतम्" अर्थात् जो कुछ भी संसार में कार्य होता है वह मन के द्वारा होता है, न कि शरीर के द्वारा। इसलिए यह कहा गया है कि "इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्हियेभ्यः परं मनः" अर्थात् इन्द्रियां बाह्य पदार्थों से परे या श्रेष्ठ हैं और इन्द्रियों से भी परे या श्रेष्ठ मन है। यदि मन स्थिर या वश में नहीं, तो आंखें खुली रहने पर भी कुछ दीख नहीं पड़ता और कान खुले रहने पर भी कुछ सुन नही पड़ता। मन को वश में करने के लिए अनेक उपाय यम-नियम बताये गये हैं, जिनके द्वारा मनुष्य अभ्यास करके अपने मन को वश में कर सकता है।

परन्तु मन से भी परे हमारे शरीर में एक दूसरी वस्तु है जो क्या अच्छा है क्या बुरा, क्या ग्रहण करने योग्य है तथा क्या त्याग करने योग, क्या लाभदायक है क्या हानिकारक, इस का ज्ञान कराती है। इसको बुद्धि के नाम से पुकारते हैं। मन स्वयं सार-असार, अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित का निर्णय नहीं कर सकता। यह निर्णय बुद्धि के द्वारा ही होता है। अतएव गीता में दुद्धि को व्यवसायत्मिका बुद्धि अर्थात् सार-असार का विचार करके निश्चय करने वाली बुद्धि कहा है। दुद्धि की सहायता के बिना मन अन्धा है। अतएव मनुष्य का कोई काम शुद्ध तभी हो सकता है जब बुद्धि शुद्ध हो अर्थात् वह भले या बुरे का अचूक निर्णय कर सके और मन बुद्धि के अनुरोध से आचरण करे तथा इन्द्रियां मन के अधीन रहें। इसीसे कहा गया है कि 'मनसस्तु परा बुद्धिः' अर्थात् मन की अपेक्षा बुद्धि अधिक श्रेष्ठ और उससे परे है। अतएव प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपनी वुद्धि को शुद्ध और सात्विक बनाये। बुद्धि के पश्चात् भी एक और तत्त्व है, जिसके द्वारा हमारे मन में "मेरा-तेरा" या यह मेरा हैं, यह तेरा है, इस भेद-भाव की उत्पत्ति होती है। इसे अहंकार कहते हैं। अन्त में पांच तत्त्व, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ पदार्थों को एकत्र करने से जो समूह बनता है, उसे ही सविकार शरीर या देह या क्षेत्र कहा गया है। व्यवहार में इसी को चलता फिरता ममुष्य का शरीद या पिंड भी कहते हैं। मनुष्य तथा जितने भी भौतिक पदार्थ संसार में हैं, सब प्रकृति के अन्तर्गत हैं और इसी को प्रकृति भी कहते जो आत्मा से बिल्कुल भिन्न या अलग वस्तु है।

मनुष्य का शरीर क्षेत्र (खेत) कहा गया है। तब यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि इस क्षेत्र, देह या शरीर का स्वामी कौन है? देह या शरीर का स्वामी वही है, जिसके लिए भिन्न-भिन्न समय में इन्द्रियां, मन और बुद्धि पृथक्-पृथक् व्यापार किया करती हैं। ये सब मन आदि इन्द्रियां एक प्रकार से सेवक हैं। उन्हें एक उद्दिष्ट या विशिष्ट दिशा

अथवा उद्देश्य की ओर प्रवृत्त फरने वाला कोई स्वामी अवश्य होना चाहिये। शरीर के अन्दर स्थित आत्मा ही शरीर का स्वामी है।

कुछ पदार्थों को एकत्र करके उन का समूह बन जाने पर भी, वे एक-दूसरे से विलग न हों, इसलिए उनमें एक सूत्र या डोरा डालना पड़ता है, नहीं तो वे कभी न कभी अलग हो सकते हैं और वह सामूहिक पदार्थ छिन्न- भिन्न हो सकता है। इसी प्रकार हमारे शरीर में भी सब इन्द्रियां अलग-अलग हैं, उन्हें एक सूत्र में पिरो कर एकत्रित रखने वाली जो शक्ति है वही 'आत्मा' है। इस आत्मा के रहने से ही हमारा शरीर चलता फिरता, जीता जागता और चेतनायुक्त रहता है ओर उसके निकल जाने से ही शरीर काठ और पत्थर के टुकड़े के समान निर्जीव और निष्प्राण हो जाता है। यह आत्मा शरीर से भिन्न और परे हैं। शरीर के मरने पर यह मरता नहीं है और शरीर जल जाने से यह जलता नहीं है। इसलिए गीता में कहा गया है कि 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' अर्थात् बुद्धि सब इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, परन्तु जो बुद्धि से भी परे या श्रेष्ठ है वही आत्मा है। उसी आत्मा को 'पुरुष' 'क्षेत्रज्ञ' या 'देही' भी कहते है। शरीर में यही एक वस्तु है जो पंच-भूत-निर्मित नहीं हैं और सदा अविनाशी है। उसके अतिरिक्त शरीर में जितने पदार्थ हैं, सब नाशवान् और अस्थिर हैं। जो वस्तु सदा अविनाशी है, उसका न आदि हो सकता है, न अन्त। वह अनादि और अनन्त है उसका कोई आकार भी नहीं हैं, क्योंकि जिस वस्तु का आकार होता है उसका आदि और अन्त भी होता है। अतएव आत्मा निराकार है। जिसका आकार होता है वही स्थान आदि से सीमित होता है। जो निराकार है, उसको आप किसी स्थान में सीमित कैसे कर सकते हैं? अतएव आत्मा न केवल हमारे शरीर में है बरन् हम में, आप में और प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है। वह सब में है और सर्वव्यापी है। वह पृथ्वी में है, तृण में है और सूर्य में भी है।

वह यहां है, वहाँ है और सर्वत्र है। यही सर्वव्यापिनी शक्ति 'परमात्मा है। उसी को 'परमेश्वर' भी कहते है। वह सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। वही सब चराचर सृष्टि में अन्तिम सत्य है। हमारे शरीर में रहने वाला आत्मा और परमात्मा दोनों एक ही हैं। संसार में नामभेद से जीवात्मा और परमात्मा यह संज्ञा दी गयी है। वास्तव में जीवात्मा और परमात्मा दोनों एक हैं। अतएव कहा गया है 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' अर्थात् जो मनुष्य के शरीर में है वही ब्रह्माण्ड में भी है। इसी सर्वव्यापी परमात्मा का -विवेचन गीता के निम्न श्लोकों में किया गया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

७—४

पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—ऐसे आठ प्रकार से मेरी प्रकृति विभाजित है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

७—५

यह अपरा अर्थात् निम्न श्रेणी की प्रकृति है। हे महाबाहु अर्जुन ! यह जानो। इससे भिन्न जगत् को धारणा करने वाली. परा, अर्थात् उच्च श्रेणी की दूसरी चेतन प्रकृति है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

७—६

हे अर्जुन, तुम ऐसा समझो कि इन्हीं दोनों से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और सारे जगत् का प्रभव (मूल) और प्रलय (अन्त) मैं ही हूँ।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

७—७

हे धनञ्जय ! मुझ से परे और कुछ नहीं है। धागे में पिरोये हुए मणियों के समान मुझ में यह सम्पूर्ण जगत् गुंथा हुआ है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥

७—८

हे अर्जुन ! जल में रस मैं हूँ, चन्द्र, सूर्य की प्रभा मैं हूँ, सब वेदों में प्रणव (ॐकार) मैं हूँ और पुरुषों में पौरुष मैं हूँ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥

७—९

पृथिवी में पवित्र गन्ध और अग्नि में तेज मैं हूँ और सब प्राणियों में उनका जीवन हूँ अर्थात जिस से वे जीते हैं वह मैं हूँ और तपस्वियों का तप मैं हूँ

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेतस्तेजस्विनामहम् ॥

७—१०

हे पार्थ ! मुझ को सब प्राणियों का सनातन बीज समझो। बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं हूँ।

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥

७—१२

ओर भी जो सत्वगुण से उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं और जो रजोगुण से तथा तमोगुण से होने वाले पदार्थ हैं, वे सब मुझ से ही हुए हैं ऐसा जान, परन्तु वास्तव में वे मुझ में हैं, मैं उनमें नहीं हूँ

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

६—४

हे अर्जुन ! मैं अपने अव्यक्त स्वरुप से इस समस्त जगत् में व्याप्त हूँ। सर्व भूत मेरे अंतर्गत संकल्प के आधार पर स्थित हैं, परन्तु मैं उन में नहीं हूँ।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥

६—६

सर्वत्र बहने वाला महान् वायु जिस प्रकार सर्वदा आकाश में रहता है, उसी प्रकार सब भूतों को मेरे में समझो ।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥

६—७

हे अर्जुन ! कल्प के अंत में सब भूत मेरी प्रकृति में आ मिलते हैं अर्थात् प्रकृति में लय हो जाते हैं और कल्प के आदि में मैं उनको रचता हूँ ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ।।

९—९

परन्तु हे अर्जुन ! इस सृष्टि-निर्माण कार्य में मेरी आसक्ति नहीं है,मैं उदासीन सा रहता हूँ । इसलिए मुझे वे कर्म नहीं बांधते हैं ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ।।

९—१७

इस जगत् का पिता, माता, धाता (आधार) और पितामह मैं हूँ । जो कुछ पवित्र या जो कुछ ज्ञेय है, वह मैं हूँ तथा ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं हूँ ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।।

९—१८

सब की गति, सब का पोषक, सब का प्रभू, साक्षी, वास-स्थान, शरण, सखा, उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति, निधान और अव्यय बीज (अविनाशी कारण) भी मैं ही हूँ ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।।

९—१९

मैं ही सूर्यरुप होकर तपता हूँ तथा पानी को रोकता हूँ और वर्षाता हूँ और हे अर्जुन ! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ, एवं सत् और असत् सब कुछ मैं ही हूँ ।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।।

१५—१२

जो तेज सूर्य में रह कर सारे जगत् को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमा और अग्नि में है, उसे मेरा ही तेज समझो ।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।।

१५—१३

मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके, अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ और रसात्मक अर्थात् अमृतमय चंद्रमा होकर सम्पूर्ण औषधियों को अर्थात् वनस्पतियों का पोषण करता हूँ ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।

१५—१४

मैं ही सब प्राणियों के शरीर में वैश्वानर रूप अग्नि होकर रहता हूँ और प्राण तथा अपान से युक्त होकर भक्ष्य, चोष्य, लेह्य और पेय चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ ।

सवस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।।

१५—१५

मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ तथा मेरे से ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन अर्थात् उनका नाश, होता है। और सब वेदों द्वारा मैं ही जानने के योग्य हूँ तथा वेदान्त का कर्ता और वेदों को जानने वाला भी मैं ही हूँ।

द्वाविमौ पुरषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

१५—१३

इस लोक में क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी) दो पुरुष हैं। सब नाशवान् भूतों को क्षर कहते हैं और कूटस्थ अर्थात् इन सब भूतों के मूल में रहने वाले अव्यक्त तत्व (जीवात्मा) को अक्षर कहते हैं।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

१५—१७

परन्तु उत्तम पुरुष तो इन दोनों से भिन्न है। उसको परमात्मा कहते हैं। वही अव्यय, ईश्वर अथवा परमात्मा तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सबका धारण पोषण करता है

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

१५—१८

क्योंकि मैं नाशवान् क्षर से तो सर्वथा परे हूँ और अक्षर (अविनाशी जीवात्मा) से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोक-व्यवहार में तथा वेद आदि में भी पुरुषोत्तम के नाम से मैं प्रसिद्ध हूँ।

———

१४

भगवान् का सब समय स्मरण करना चाहिये

सदा जन्मभर जिस भाव में मनुष्य रँगा रहता है, वह अन्त काल में भी उसी का स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है। जो बात जन्म भर मन में रहती है, वह मरण-काल में भी नहीं छूटती। अतएव जीवन भर परमेश्वर का स्मरण और उपासना करने की आवश्यकता है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी कहा है "यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" अर्थात् इस लोक में मनुष्य का जेसा क्रतु या संकल्प होता है, मरने पर उसे वैसी ही गति प्राप्त होती है। गीता के नीचे लिखे श्लोकों में भी यही बात कही गयी है कि जन्म भर एक ही भावना में मन को रँगे बिना, अन्त काल की यातना के समय, वही भावना स्थिर नहीं रह सकती। अतएव मनुष्य जीवन भर परमेश्वर का ध्यान करे, जिससे कि अन्त-काल में भी भगवान् का स्मरण होता रहे।

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

८—५

जो पुरुष अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।

८—६

हे कौन्तेय ! सदा जन्म भर उसी में रँगे रहने से मनुष्य जिस भाव का स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर त्यागता है, वह उसी भाव में जा मिलता है ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।

८—७

इसलिए सदैव ही मेरा स्मरण करता रह और युद्ध कर । मुझ में मन और बुद्धि अर्पण करने से मुझ में ही निःसन्देह आ मिलेगा ।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।

८—८

हे पार्थ ! परमेश्वर के ध्यान के अभ्यासरूप योग से युक्त, अन्य ओर न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष, परम प्रकाशस्वरूप, दिव्य पुरुष को अर्थात् परमेश्वर को ही प्राप्त होता है ।

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।

८—९

इससे जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबका शासन करने वाले, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करने वाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यसदृश प्रकाशवान्, अविद्या से परे, शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा को स्मरण करता है...

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।

८—१०

वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकाल में योगबल से भृकुटी के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापन करके, फिर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्य परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम् ।।

८—१२

सब इन्द्रियों के द्वारों को रोक अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटा कर तथा मन को हृद्देश में स्थित करके और अपने प्राण को मस्तक में स्थापन करके, योगधारण में स्थित हुआ—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।

८—१३

जो पुरुष 'ओम्' इस एक अक्षररूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और मेरे को चिन्तन करता हुआ, शरीर को त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगति की प्राप्त होता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।

८—१४

हे अर्जुन ! जो पुरुष अनन्यचित्त से सदा निरन्तर मेरे को स्मरण करता है, उस निरन्तर मेरे में युक्त योगी को मैं सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धि परमां गताः ।।

८—१५

वे परम सिद्धि को प्राप्त हुए महात्मा जन मेरे को प्राप्त होकर दुःख के घर, क्षणभंगुर, पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते हैं ।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
ममुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।

८—१६

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक से लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाव वाले हैं अर्थात् जिन को प्राप्त होकर पीछे संसार में आना पड़ता है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! मेरे को प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता ।

———

१५

सच्चा भक्त भगवान् का प्यारा है

"जैसा बोयेगा वैसा काटेगा, जैसा कर्म करेगा वैसा फल पायेगा" कर्म के इस सिद्धान्त से भयभीत होकर, कोई कदाचित् यह सोचे कि फिर हमारे उद्धार तथा हमारी मुक्ति का तो कोई मार्ग नहीं रहा, क्योंकि हमसे तो अनेक पाप, अनेक दुराचार, अनेक अन्याय बन पड़े हैं। परन्तु ऐसे लोगों को भी निराश होने का कोई कारण नहीं है। परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार जहाँ योग, निष्काम कर्म आदि से होता है, वहाँ साथ ही सच्ची भक्ति से भी भगवान् की प्राप्ति हो सकती है। पापीसे पापी मनुष्य सच्चे हृदय से भगवान् की प्रार्थना करे, अपने पापों के लिए सच्चे मन से पश्चात्ताप करे और भविष्य में पवित्र जीवन बिताने का निश्चय कर ले, तो भगवान् की कृपा से वह पाप तथा कर्म के बन्धनों से छूट सकता है और उसका भावी जीवन पवित्र और आनन्दमय बन सकता है। भगवान् की भक्ति में ऊँच या नीच, स्त्री-पुरुष का कोई भेद-भाव नहीं है। सभी भगवान् की भक्ति के अधिकारी हैं और सभी भगवान् की सच्ची भक्ति से अपने आत्मा को शुद्ध बना कर परमपद के योग्य बन सकते हैं। इसी बात का प्रतिपादन गीता के निम्न-लिखित श्लोकों में है :—

अनन्याश्चितयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।

९—२२

जो लोग अनन्यनिष्ठ होकर मेरा चिंतन कर मुझे भजते हैं, उन नित्य-योगी पुरुषों का योग-क्षेम मैं किया करता हूँ।

(जो वस्तु मिली नहीं है उसको जुटाने का नाम 'योग' ओर मिली हुई वस्तु की रक्षा को क्षेम कहते हैं)

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।।

९—२३

हे अर्जुन ! यद्यपि श्रद्धा से युक्त होकर जो सकामी भक्त, दूसरे देवताओं को पूजते हैं, वे भी मेरे को ही पुजते है, किन्तु उनका वह पूजना अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है ।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।।

९—२४

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी मैं हूँ, परन्तु वे मुझ परमेश्वर को तत्त्व से नहीं जानते हैं, इसी से गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं ।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।

८—२५

कारण, यह नियम है कि देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मेरे को ही प्राप्त होते हैं, इस लिए मेरे भक्तों का पुनर्जन्म नहीं होता ।

पत्रं तुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्वा प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्पुपहृतमश्नामि प्रयतात्मना ।।

९—२६

जो मुझे भक्ति से पत्र, पुष्प, फल अथवा जल भी अर्पण करता है, उस नियतचित्त पुरुष की भक्ति की भेंट को मैं आनन्द से ग्रहण करता हूँ ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।

९—२७

इसलिए हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्वा मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।

९—२९

यद्यपि मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मेरे को प्रेम से भजते हैं वे मेरे में हैं और मैं उनमें हूँ ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।

९—३०

यद्यपि कोई अतिशय दुराचारी अनन्य भाव से मेरा भक्त होकर मेरे को निरन्तर भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है अर्थात् उसने भली प्रकार यह निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है ।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।

९—३१

इसलिए वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परम शांति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! निश्चयपूर्वक इस सत्य को जान ले कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम् ॥

९—३२

क्योंकि हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य और शूद्रादिक तथा पापयोनि वाले भी जो कोई होवें, वे भी मेरे शरण हो कर परमगति को प्राप्त होते हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

९—३३

फिर क्या बात है यदि पुण्यशील ब्राह्मणजन तथा राजर्षि भक्तजन परमगति को प्राप्त होते हैं। इसलिए सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्यजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

९—३४

केवल मुझ परमात्मा में मन लगा, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा कर और मुझे नमस्कार कर। इस प्रकार मत्परायण होकर योग का अभ्यास करके तू मुझे प्राप्त करेगा।

———

१६

भगवान् की विभूति

यों तो समस्त विश्व में जितने भी पदार्थ तथा जितने जीव और प्राणी हैं, उनमें से कोई भी परमेश्वर की सर्वव्यापक सत्ता से शून्य नहीं है। परन्तु जहाँ कहीं भी असाणारण या अलौकिक प्रतिभा, बुद्धि, ज्ञान, बल, शक्ति, गुण, तेज, वीर्य, ऐश्वर्य, शोभा या महिमा दीख पड़ती हो, वहाँ विशेष रूप से भगवान् की विभूति का दर्शन होता है। भगवान् की विभूति की कोई सीमा और अन्त नहीं है। तथापि उदाहरण के रूप में गीता के निम्नलिखित श्लोकों में भगवान् की कुछ विभूतियों का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया गया है :—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं च महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।।

१०—२

श्री भगवान् ने कहा—देवताओं के गण और महर्षि भी मेरी उत्पत्ति को नहीं जानते, क्योंकि देवताओं और महर्षियों का सब प्रकार से मैं ही आदि कारण हूँ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमा प्रजाः ।।

१०—६

ले अर्जुन ! सात महर्षिजन और चार उनसे भी पूर्व में होने वाले सनकादि तथा स्वायंभु आदि चौदह मनु, यह मेरे में भाव वाले, सब के सब, मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसार में यह सम्पूर्ण प्रजा है ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ।।

१०—२०

हे गुडाकेश ! सब भूतों के भीतर रहने वाला आतमा मैं हूँ और सब भूतों का आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ ।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुभान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ।।

१०—२१

हे अर्जुन ! मैं अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु अर्थात् वामन अवतार और ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूँ तथा मैं उञ्चास वायु-देवताओं में मरिचि नामक वायु देवता और नझत्रों का अधिपति चन्द्रमा हूँ ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणाँ मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ।।

१०—२२

मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवताओं में इन्द्र हूँ और इन्द्रियों में मन हूँ, भूतों में चेतना अर्थात् प्राण की चलन-शक्ति मैं हूँ ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखिरिणामहम् ।।

१०—२३

मैं एकादश रुद्रों में शंकर हूँ और यक्ष तथा राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर हूँ और मैं आठ वसुओं में अग्नि हूँ तथा शिखर वाले पर्वतों में सुमेरु हूँ ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ वृहस्पतिम् ।
सेनानीमहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ।।

१०—२४

पुरोहितों में मुख्य अर्थात् देवताओं का पुरोहित वृहस्पति मेरे को जान तथा हे पार्थ ! सेनापतियों में मैं स्वामिकार्तिक और जलाशयों में समुद्र हूँ ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।।

१०—२५

हे अर्जुन ! मैं महर्षियों में भृगु और वचनों में एक अक्षर अर्थात् ओंकार हूँ तथा सब प्रकार के यज्ञों में जपयज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय पहाड़ हूँ ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ।

१०—२६

सब वृक्षों में मैं पीपल का वृक्ष और देवर्षियों में नारदमुनि तथा गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिलमुनि हूँ ।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।।

१०—२८

हे अर्जुन ! मैं शस्त्रों में वज्र हूँ, गौओं में कामधेनु हूँ और सन्तान की उत्पत्ति का हेतु कामदेव हूँ तथा सर्पों में सर्पराज वासुकि हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।।

१०—३०

हे अर्जुन ! मैं दैत्यों में प्रह्लाद और गिनती करने वालों में समय हूँ तथा पशुओं में मृगराज सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।।

१०—३१

मैं पवित्र करने वालों में वायु और शस्त्रधारियों में राम हूँ तथा मछलियों में मगरमच्छ हूँ और नदियों में श्रीभागीरथी गंगा हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।।

१०—३२

हे अर्जुन ! सृष्टि मात्र का आदि, अन्त और मध्य भी मैं हूँ। विद्याओं में अध्यात्म विद्या और वाद करने वालों का वाद मैं हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।।

१०—३४

सब का क्षय करने वाली मृत्यु और जन्म लेने वालों का उत्पत्ति-स्थान हूँ; स्त्रियों में कीर्ति, श्री और वाणी, स्मृति मेधा, धृति, तथा क्षमा भी मैं हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥

१०—३५

साम अर्थात् गाने के योग्य वैदिक स्तोत्रों में वृहत्साम और छन्दों में गायत्री मैं हूँ । महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त ऋतु मैं हूँ ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥

१०—३६

हे अर्जुन ! मैं छल करने वालों में जुआ और प्रभावशाली पुरुषों का प्रभाव हूँ तथा मैं जीतने वालों की विजय हूँ और निश्चय करने वालों का निश्चय एवं सात्त्विक पुरुषों का सात्त्विक भाव हूँ ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषिताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥

१०—३८

मैं शासन करने वालों का दंड, जय की इच्छा करने वालों की नीति और गुह्यों में मौन हूँ । ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूँ ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥

१०—३९

इसी प्रकार हे अर्जुन ! सब भूतों का जो कुछ बीज है, वह मैं हूँ और ऐसा कोई चर-अचर भूत नहीं है जो मेरे बिना हो ।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानाँ विभूतीनां परंतप।
एष तत्तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥

१०—४१

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियों का कोई अन्त नहीं है। यह तो मैंने अपनी विभूतियों का विस्तार तेरे लिए संक्षेप से कहा है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

१०—४०

जो वस्तु वैभव, लक्ष्मी या प्रभाव से युक्त है, उनको तुम मेरे तेज के अंश से उपजी हुई समझो।

वदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

१५—१२

जो तेज सूर्य में रह कर सारे जगत् को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमा तथा अग्नि में है, उसे मेरा ही तेज समझो।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥

१५—१३

और में ही पृथ्वी मैं प्रवेश करके, अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर, संपूर्ण वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।

१५—१४

तथा मैं ही हर प्राणियों के शरीर में स्थित वैश्वानर अग्नि रूप होकर तथा प्राण और अपान से युक्त होकर भक्ष्य, चोष्य, लेह्य और पेय ऐसे चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।।

१५—१५

मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ तथा मेरे से ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन अर्थात् नाश होता है और सब वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ तथा वेदान्त का कर्ता और वेदों का जानने वाला भी मैं ही हूँ।

———

१७

भगवान् का विश्वरूप दर्शन

गीता के दशम अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों का जो वर्णन किया है उसे सुनकर अर्जुन ने परमेश्वर का विश्वरूप देखने की अपनी इच्छा प्रकट की। अर्जुन की इच्छानुसार भगवान् ने उसे जिस विश्वरूप का दर्शन कराया उसका वर्णन गीता के ग्यारहवें अध्याय में है। यह वर्णन इतना सरस और सजीव है कि गीता के उत्तम भागों में उसकी गिनती होती है। भगवान् का विश्वरूप-वर्णन जैसा गीता में किया गया है, एक महान् चमत्कार का वर्णन है। साधारण नेत्रों से यह चमत्कार देखने में अर्जुन असमर्थ था, अतएव भगवान् ने देखने के लिए अपनी दिव्य दृष्टि उसको प्रदान की। उस दिव्य दृष्टि से अर्जुन ने भगवान् के विश्व-रूप में सर्वव्यापी उस विश्वात्मा या परमात्मा का दर्शन किया, जिसके साक्षात् करने से भला और बुरा, सुख और दुःख, अन्धकार और प्रकाश, यह सब भेदभाव मिट जाते हैं। इस विश्व-रूप दर्शन का सारांश यह है कि सच्चे मुमुक्षु भक्तों के हृदय में सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा की झलक सच्ची भक्ति से मिल सकती है। भगवान् का विश्वरूप-दर्शन निम्न श्लोकों द्वारा सजीव शब्दों में वर्णित है :—

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥

११—४

अर्जुन ने कहा—प्रभु ! यदि तुम समझते हो कि उस प्रकार का रूप मैं देख सकता हूँ तो हे योगेश्वर ! अपना अव्यय स्वरूप मुझे दिखाइये ।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥

१२—५

हे पार्थ ! मेरे अनेक प्रकार के, अनेक रंगों के और आकारों के सैंकड़ों अथवा हजारों दिव्य रूपों को देखो ।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥

११—७

हे गुडाकेश ! आज यहाँ पर एकत्र सब चर अचर जगत् को देख ले और भी जो कुछ देखने की लालसा हो वह भी मेरी इस देह में देख ले ।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

११—८

परन्तु तू अपनी दृष्टि से मुझे देख न सकेगा, तुझे मैं दिव्य दृष्टि देता हूँ, उससे मेरे ईश्वरी योग अर्थात् योग-सामार्थ्य को देख ।

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥

११—९

संजय ने कहा—फिर हे राजा धृतराष्ट्र ! इस प्रकार कह कर योगेश्वर श्री कृष्ण ने अर्जुन को अपना श्रेष्ठ ईश्वरी रूप दिखाया ।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥

११—१०

उस विश्वरूप के अनेक मुख और नेत्र थे और उनमें अद्भुत दृश्य दीख पड़ते थे । उन पर अनेक प्रकार के दिव्य अलंकार थे और उनमें नाना प्रकार के दिव्य आयुध सुसज्जित थे ।

दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगंधानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतो मुखम् ॥

११—११

उस अनन्त सर्वतोमुख और सब आश्चर्यों से भरे हुए देवता के दिव्य सुगंधित उबटन लगा हुआ था और वह दिव्य पुष्प एवं वस्त्र धारण किये हुए था ।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥

११ – १२

हे राजन् ! आकाश में हजार सूर्यों के एक साथ उदय होने से उत्पन्न हुआ जो प्रकाश होवे, वह भी उस विश्व रूप परमात्मा के प्रकाश के सदृश कदाचित् ही होवे ।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥

११—१३

तब देवाधिदेव के इस शरीर में नाना प्रकार से बंटा हुआ सारा जगत् अर्जुन को एकत्रित दिखाई पड़ा ।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥

११—१४

फिर आश्चर्य में डूबने से उसे रोमांच हो आया और तब मस्तक नमा कर नमस्कार करके तथा अंजलिबद्ध होकर अर्जुन ने उस देवता से कहा—

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम् ।
नांतं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

११—१५

अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्रधारी अनन्त रूपी तुम्हीं को मैं चारों ओर देखता हूँ, परन्तु हे विश्वेश्वर, विश्वरूप, तुम्हारा न तो अन्त, मध्य और न आदि ही मुझे कहीं दीख पड़ता है ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥

११—१७

किरीट, गदा और चक्र धारण करने वाले, चारों ओर प्रभा फैलाये हुए, तेजोपुंज, दमकते हुए, अग्नि और सूर्य के समान देदीप्यमान, आँखों से देखने में भी अशक्य, अपरंपार तुम्हीं सर्वत्र दीख पड़ते हो ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥

११—१८

तुम्हीं अन्तिम ज्ञेय अक्षर (ब्रह्म) हो, तुम्हीं इस विश्व के अन्तिम आधार, तुम्हीं अव्यय और तुम्हीं शाश्वत धर्म के रक्षक हो । मुझे सनातन पुरुष तुम्हीं जान पड़ते हो ।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

११—१९

हे भगवान् ! मैं आपको आदि, अन्त और मध्य से रहित तथा अनन्त सामर्थ्य से युक्त और अनन्त हाथों वाला तथा चन्द्र सूर्यरूप नेत्रों वाला तथा प्रज्वलित अग्निरूप मुख वाला तथा अपने तेज से इस जगत् को तपायमान करता हुआ देखता हूँ ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥

११—२०

हे महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएं एक आपसे ही परिपूर्ण हैं तथा आपके इस अलौकिक और भयंकर रूप को देख कर तीनों लोक अतिव्यथा को प्राप्त हो रहे हैं ।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥

११—२३

हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रों वाले तथा बहुत हाथ, जंघा और पैरों वाले और बहुत उदरों वाले तथा बहुत सी विकराल जाड़ों वाले महान् रूप को देख कर, सब लोग व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ।

११—२४

क्योंकि हे विष्णु ! आकाश के साथ स्पर्श किये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त आपको देख कर, भयभीत अन्तःकरण वाला मैं धीरज और शान्ति को नहीं प्राप्त होता हूँ ।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

११—१५

हे भगवन् ! आपके विकराल जवड़ों वाले और प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देख कर दिशाओं को नहीं जानता हूँ और सुख को भी नहीं प्राप्त होता हूँ, इसलिये हे देवेश ! जगन्निवास! आप प्रसन्न होवें ।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।।

११—२८

हे बिश्वमूर्ति ! जैसे नदियों के बहुत से जल के प्रवाह समुद्र के ही सम्मुख दौड़ते हैं, अर्थात् समुद्र में प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये शूरवीर मनुष्यों के समुदाय भी आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश करते हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।।

११—२९

जलती हुई अग्नि में मरने के लिए बड़े वेग से जिस प्रकार पतंग कूदते हैं, वैसे ही तुम्हारे अनेक जबड़ों में ये लोग मरने के लिए वेग से प्रवेश करते हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।।

११—३०

और आप उन सम्पूर्ण लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रसन करते हुए, सब ओर से चाट रहे हैं। हे विष्णो ! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत् को तेज के द्वारा परिपूर्ण करके तपायमान करता है।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यम्
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।।

११—३१

हे भगवन् ! कृपा करके मेरे से कहिये कि आप उग्ररूप वाले कौन हैं ? देवों में श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार होवे, आप प्रसन्न होइये। आदिस्वरूप, आपको मैं तत्व से जानना चाहता हूँ, क्योंकि आपकी प्रवृत्ति को मैं नहीं जानता।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

११—३२

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर श्रीकृष्ण भगवान् बोले—हे अर्जुन ! मैं लोकों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय इन लोगों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ, इसलिए जो प्रतिपक्षियों की सेना में स्थित हुए योद्धा लोग हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी सब का नाश होने का है।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥

११—३३

इससे तू खड़ा हो और यश को प्राप्त कर तथा शत्रुओं को जीतकर धनधान्य से सम्पन्न राज्य को भोग। यह सब शूरवीर पहिले से ही मेरे द्वारा मारे गये हैं, हे सव्यसाचित् ! तू तो केवल निमित्त मात्र ही हो जा।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

११ — ३५

इसके उपरान्त संजय बोला कि हे राजन् ! केशव भगवान् के इस वचन को सुनकर, मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़े हुए कांपता हुआ नमस्कार करके, फिर भी भयभीत हुआ प्रणाम करके, भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति गद्गद वाणी से बोला—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

११—१८

तुम आदि देव, तुम पुरातन पुरुष, जगत् के परम आधार, तुम ज्ञाता और ज्ञेय तथा श्रेष्ठ स्थान हो, और हे अनन्तरूप, तुम्हीं से यह विश्व व्याप्त है ।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा और प्रपितामह (परदादा) भी तुम्हीं हो । तुम्हें सहस्र बार नमस्कार है । और फिर भी तुम्हीं को नमस्कार ।

———

१८

भक्तियोग

परब्रह्म परमात्मा अनादि, अनन्त, अनिर्वाच्य, अनिर्देश्य, इन्द्रियातीत अव्यक्त, निर्गुण, निराकार और "एकमेवाद्वितीयं" है। उसे हम आँखों से देख नहीं सकते और कानों से सुन नहीं सकते। उसका कोई रूप, आकार और गुण नहीं है। ऐसे निराकार और निर्गुण ब्रह्म की उपासना और प्राप्ति केवल दीर्घ काल के अभ्यास से, ज्ञान के द्वारा मन और बुद्धि को शुद्ध और पवित्र बनाकर, निरंतर ध्यान और चिन्तन से ही हो सकती है। ऐसे महात्मा, ज्ञानी और संपूर्ण रूप से मन को वश में कर लेने वाले मनुष्य संसार में विरले होते हैं। साधारण पनुष्यों के लिए निराकार, निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन और उपासना अत्यन्त कठिन और दुःसाध्य वस्तु है। साधारण मनुष्यों के लिए केवल ज्ञान के द्वारा परमात्मा को पहचानना वालू से तेल निकालने के समान है। ऐसी अवस्था में परमात्मा या परमेश्वर तक पहुँचने का फिर कोई मार्ग या साधन लाखों और करोड़ों मनुष्यों के लिए नहीं रह जाता। यदि केवल इतना ही जान लेने से हमारा काम चल जाय कि परमात्मा या परमेश्वर निर्गुण और निराकार है तो कोई बात नहीं थी। परन्तु परब्रह्म की प्राप्ति केवल कोरे ज्ञान से नहीं हो जाती। उसके लिए दीर्घ समय तक निरन्तर अभ्यास के द्वारा मन को बश में करने की आवश्यकता होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई-कोई असाधारण मनुष्य अपनी बुद्धि से परब्रह्म के स्वरूप का निश्चय करके उसके अव्यक्त स्वरूप में, केवल अपने विचारों के बल

से, मन को स्थिर कर लेने में समर्थ हो जाते हैं। परन्तु ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े होते हैं। ऐसे लोग जिस मार्ग के द्वारा अव्यक्त और निराकार परमात्मा की उपासना करते हैं, उसे ज्ञान मार्ग कहते हैं।

मनुष्य का मन स्वभाव से ही चंचल है। अतएव जब तक मन के सामने उसके टिकने के लिए कोई इन्द्रियगोचर आधार वा वस्तु न हो, तब तक मन यह भूल जाया करता है कि कहां पर उसे स्थिर होना है। चित्त की स्थिरता का यह मानसिक कार्य बड़े-बड़े ज्ञानी मनुष्यों को भी दुष्कर प्रतीत होता है, तो फिर साधारण मनुष्यों की तो बात ही न्यारी है। निराकार निर्गुण परमेश्वर में अपने मन को लीन करने के लिए जब तक मन के सामने कोई प्रत्यक्ष नामरूपात्मक वस्तु न हो तब तक साधारण मनुष्य अपने मन को स्थिर नहीं कर सकता है। इसी लिए योगवाशिष्ठ में कहा है कि—

"अक्षरावगमलब्धये यथा स्थूलवर्त्तुलदृषत्परिग्रहः।
शुद्धबुद्धपरिलब्धये तथा दारुमृण्मयशिलामयार्चनम् ॥"

अर्थात् अक्षरों का परिचय कराने के लिए बालकों के सामने जिस प्रकार कंकड़ रखकर अक्षरों का आकार दिखाना पड़ता है, उसी प्रकार नित्य शुद्ध-बुद्ध परमात्मा का ज्ञान होने के लिए लकड़ी, मिट्टी या पत्थर की मूर्ति का उपयोग किया जाता है।

यही नहीं, जब तक हम कोई व्यक्त या प्रत्यक्ष पदार्थ नहीं देख लेते तब तक हमारे मन में अव्यक्त की कल्पना ही नहीं उठती। इसे आप मनुष्य का स्वभाव कहें या दोष, परन्तु जब तक देहधारी मनुष्य अपने मन के इस स्वभाव को अलग नहीं कर लेता, तब तक उसे उपासना के लिए सगुण या साकार वस्तु का अबलम्बन लेना ही पड़ेगा। गीता में कहा भी है—

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥"

अर्थात् अव्यक्त निराकार में चित्त एकाग्र करने वाले को बहुत कष्ट होते हैं, क्योंकि इस अव्यक्त गति को पाना देहेन्द्रियधारी मनुष्य के लिए स्वभावत: कष्ट दायक है। इस प्रत्यक्ष उपासना के मार्ग को ही भक्ति-मार्ग कहते हैं। जिस मार्ग में अव्यक्त ब्रह्म या परमात्मा की उपासना, बुद्धि या ज्ञान द्वारा, की जाती है उसे ज्ञान मार्ग कहते हैं, और जिस मार्ग में अव्यक्त ब्रह्म या परमेश्वर की उपासना व्यक्त या साकार रूप में की जाती है, उसे भक्तिमार्ग या भक्ति योग कहते हैं। ज्ञान मार्ग और भक्तियोग यह दोनों परमात्मा की प्राप्ति के साधन प्राचीन समय से एक साथ चले आ रहे हैं, परन्तु दोनों में अन्तर केवल यह है कि अव्यक्त या निराकार ब्रह्म की उपासना बहुत क्लेशमय होने से सर्व-साधारण के लिए सुलभ नहीं है और व्यक्त या साकार परमेश्वर सर्व-साधारण के लिए अधिक सुलभ और सरल है। इसलिए भक्तिमार्ग को राजमार्ग या राजविद्या कहा गया है।

भक्ति मार्ग में परमात्मा की प्राप्ति के लिए किसी वस्तु का साधन या प्रतीक मानकर उसकी उपासना करने का उपाय बताया गया है। इस मार्ग के अनुसार शिवलिंग, राम, कृष्ण आदि की मूर्ति या मन्दिर आदि कोई भी वस्तु हो वह सब मन को स्थिर करने के लिए अर्थात् चित्त की वृत्ति को परमेश्वर की ओर झुकाने के लिए साधन मात्र हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार उपासना के लिए कोई भी प्रतीक या साधन स्वीकार कर सकता है। परन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि परब्रह्म परमेश्वर उस प्रतीक में नहीं, परन्तु उस से परे है। भक्तिमार्ग में मनुष्य का उद्धार करने की जो शक्ति है, वह सजीव या निर्जीव मूर्ति में नहीं या मन्दिर में नहीं है, किन्तु उस मूर्ति या मन्दिर के पीछे परब्रह्म परमेश्वर की जो सर्वव्यापी शक्ति है, वही वास्तव में भक्त मनुष्य का उद्धार करने वाली शक्ति है। प्रतीक चाहे जो कुछ भी या चाहे जैसा हो, वह प्रतीक से अधिक नहीं है। उस प्रतीक में जैसा हमारा भाव होगा, उसी के अनुसार हमारी भक्ति का फल हमें मिलेगा।

इसी सगुण उपासना, भक्तिमार्ग अथवा भक्तियोग का विवेचन श्री भगवान् ने गीता के बारहवें अध्याय में तथा अठारवें अध्याय के अन्त में निम्न प्रकार किया है:—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।।

१२—२

श्री भगवान् ने कहा— मुझ में मन लगाकर, सदा युक्त चित्त हो करके, परम श्रद्धा से जो मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मत में सबसे उत्तम युक्त अर्थात् योगी हैं ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।

१२-३, ४

परन्तु जो अनिर्देश्य अर्थात् प्रत्यक्ष न दीखने वाले, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य और कूटस्थ अर्थात् सबसे मूल में रहने वाले अचल और नित्य अक्षर अर्थात् ब्रह्म की उपासना, सब इन्द्रियों को रोक कर, सर्वत्र सम बुद्धि रखते हुए करते हैं, वे सब भूतों के हित में निमग्न पुरुष मुझे ही पाते हैं ।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुखं देहवद्भिरवाप्यते ।।

१२—५

किन्तु उन सच्चिदानन्दघन, निराकार ब्रह्म में आसक्त हुए चित्त वाले पुरुषों के साधन में क्लेश अर्थात् परिश्रम विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियों से अव्यक्त विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है अर्थात् जब तक शरीर में अभिमान रहता है तब तक शुद्ध, सच्चिदानन्दघन, निराकार ब्रह्म में स्थित होना कठिन है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥

१२—६

परन्तु जो मुझ में सब कर्मों का संन्यास अर्थात् अर्पण करके मत्परायण होते हुए, अनन्य योग से मेरा ध्यान कर मुझे भजते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

१२—७

हे पार्थ ! मुझ में चित्त लगाने वाले उन लोगों का मैं इस मृत्युमय-संसार सागर से अविलम्ब ही उद्धार कर देता हूँ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

१२—८

इसलिए हे अर्जुन ! तू मेरे में मन को लगा और मेरे में ही बुद्धि को लगा, इसके उपरान्त तू मेरे में ही निवास करेगा अर्थात् मेरे को ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ संशय नहीं है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥

१२—९

और यदि तू मन को अचल स्थापन करने के लिए समर्थ नहीं है, तो हे अर्जुन ! अभ्यासरूप योग के द्वारा मेरे को प्राप्त होने के लिए इच्छा कर।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।।

१२—१०

और यदि तू ऊपर कहे हुए अभ्यास में असमर्थ है, तो केवल मेरे लिए कर्म करने में ही परायण हो। इस प्रकार मेरे अर्थ कर्मों को करता हुआ तू मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को प्राप्त होगा।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।

१२—११

यदि इसको भी करने के लिए तू असमर्थ है, तो यतात्मा होकर और कर्म का आश्रय लेकर सब कर्मों के फल को मेरे लिए त्याग करदे।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्म फलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।

१२—१२

क्योंकि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है और ज्ञान से परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है तथा ध्यान से भी कर्मों के फल का त्याग करना श्रेष्ठ है क्योंकि कर्मफल के त्याग से तत्काल ही शान्ति प्राप्त होती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।।

१२—१३

जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो सब भूतों के साथ मित्रता से बर्तता है, जो कृपालु है, जो ममत्व बुद्धि अहंकार से रहित है और जो दुःख और सुख में समान एवं क्षमाशील है।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

१२—१४

जो सदा सन्तुष्ट, संयमी तथा दृढ़निश्चय वाला है और जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझ में अर्पण कर दिया है, वह मेरा कर्मयोगी भक्त मुझ को प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

१२—१५

जिससे न तो लोगों को क्लेश होता है और न जो लोगों से क्लेश पाता है, इस प्रकार हर्ष, क्रोध, भय और विषाद से जो अलिप्त है, वह मुझे प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

१२—१६

जो पुरुष आकाँक्षा से रहित तथा बाहर भीतर से शुद्ध और दक्ष है एवं पक्षपात से रहित और दुखों से छूटा हुआ है, वह सर्व आरम्भों का त्यागी अर्थात् मन, वाणी और शरीर द्वारा प्रारब्ध होंने वाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मों के कर्त्तापन के अभिमान का त्यागी, मेरा भक्त मेरे को प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥

१२—१७

जो न आनन्द मानता है, न द्वेष करता है, जो न शोक करता है और न इच्छा रखता है, जिसने कर्म के शुभ और अशुभ फल छोड़ दिए हैं, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है ।

समः शत्रौ च मित्रे च था मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥

१२—१८

जिसे शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी, सुख और दुःख समान हैं और जिसे किसी में भी आसक्ति नहीं है—

तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी संतुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

१२—१९

जिसे निन्दा और स्तुति एक सी है, जो मितभाषी है, जो कुछ मिल जाय उसी में सन्तुष्ट है एवं जिसका चित्त स्थिर है, जो अनिकेत है अर्थात् जिसका (कर्मफलाशारूप) ठिकाना कहीं भी नहीं रह गया है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्यारा है ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्यसर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥

१८—६१

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहकर अपनी माया से प्राणिमात्र को ऐसा घुमा रहा है, मानो सभी किसी यंत्र में चढ़े हों ।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

१८—६२

इसलिए हे भारत ! तू सर्व भाव से उसी की शरण में जा । उसके अनुग्रह से तुझे परम शान्ति और नित्य स्थान प्राप्त होगा ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

१८—६५

मुझ ईश्वर में अपना मन रख, मेरा भक्त हो, मेरा भजन कर और मेरी वन्दना कर, मैं तुझ से सत्य प्रतिज्ञा कर कहता हूँ कि इससे तू मुझ में आ मिलेगा क्योंकि तू मेरा प्यारा भक्त है ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माऽशुचः ॥

१८—६६

सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरे ही शरण में आ जा । मैं तुझे सब पापों से मुक्त करा दूँगा । तू डर मत ।

———

१९

जीवात्मा तथा परमात्मा

अथवा

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार

भगवान् कृष्ण ने गीता के तेरहवें अध्याय में पहले क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार किया है, उसके पश्चात् ज्ञान क्या है, अज्ञान क्या है और ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य क्या है, इसका विवेचन किया है और अन्त में परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति किस को होती है, इसकी मीमांसा की है। गीता के अनुसार मनुष्य का सजीव चेतनायुक्त शरीर ही क्षेत्र है। मृत शरीर को क्षेत्र नहीं कहा जाता। पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश इन पांच तत्वों का सूक्ष्म भाव, आँख, कान, नाक, मुँह आदि दश इन्द्रियां, मन, बुद्धि, अहंकार, सृष्टि के बाहरी पदार्थों के साथ इन्द्रियों का सम्पर्क होने से शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का अनुभव, इच्छा, द्वेष सुख, दुःख आदि का ज्ञान, स्थूल शरीर और चेतनता इन सबों के समुदाय या समूह को गीता में क्षेत्र कहा है। उसी के जीवात्मा और प्रकृति आदि भिन्न-भिन्न नाम भी दिये गये हैं। जैसे खेत में बोये हुए बीजों का उनके अनुरूप फल समय पर प्रगट होता है, वैसे ही शरीर में बोये हुए कर्मों के संस्कार-रूप बीजों का फल भी समय पर प्रगट होता है। इसलिए सविकार शरीर को क्षेत्र कहा है। जो इस क्षेत्र को जानता है और जो इस में निवास करता हुआ भी इससे परे है, उसे क्षेत्रज्ञ या

परमेश्वर कहते हैं। उसी को परमात्मा और पुरुष के नाम से भी पुकारते हैं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, जीवात्मा और परमात्मा, प्रकृति और पुरुष—इन दोनों के सम्बन्ध का जो ज्ञान है उसी को परमेश्वर या परमात्मा का ज्ञान कहा गया है। गीता में श्री भगवान् ने कहा है कि सब प्राणियों में मैं ही क्षेत्रज्ञ रूप से निवास करता हूँ। सारांश यह कि जीवात्मा और परमात्मा वास्तव में एक ही हैं। दूसरे शब्दों में जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है ऐसा हम कह सकते हैं। जो मनुष्य ज्ञान के द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के वास्तविक स्वरूप और भेद को पहचान कर सब प्राणियों में परमेश्वर को ही देखने लगता है, वह परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। इसी विषय का विवेचन गीता के निम्नलिखित श्लोकों में विस्तार के साथ किया गया है :—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

१३—१

श्री भगवान् ने कहा—हे कौन्तेय, इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं। इसे जो जानता है उसे तद्विद् अर्थात् इस तत्व के जानने वाले क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

१३—२

हे भारत! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही समझ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही मेरा (परमेश्वर का) ज्ञान माना गया है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥

१३—३

इसलिए, वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जिन विकारों वाला है और जिस कारण से हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभाव वाला है—यह सब संक्षेप से मेरे से सुनो।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः।।

१३—५

पृथ्वी आदि पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (प्रकृति) दश इन्द्रियाँ और एक मन तथा पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध)।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।

१३—६

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देह-पिंड, चेतना अर्थात् प्राण आदि का व्यक्त व्यापार और धृति अर्थात् धैर्य—इन ३१ तत्वों के समुदाय को 'क्षेत्र' कहते हैं।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।

१३—७

हे अर्जुन! श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव प्राणिमात्र को किसी प्रकार भी न सताना और क्षमाभाव, मन-वाणी की सरलता, गुरु की सेवा, बाहर भीतर की शुद्धि, अन्तःकरण की स्थिरता, मन और इन्द्रियों सहित शरीर का निग्रह।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।

१३—८

इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव और अहंकार का भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि में दुःख दोषों का बारम्बार विचार करना ।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥

१३—९

पुत्र, स्त्री, घर और धनादि में आसक्ति का अभाव और ममता का न होना तथा प्रिय एवं अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना, अर्थात् मन के अनुकूल तथा प्रतिकूल के प्राप्त होने पर भी हर्ष-शोकादि विकारों का न होना ।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

१३—१०

मुझ परमेश्वर में एकीभाव से अनन्यभक्ति तथा एकान्त देश में रहने का स्वभाव और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न होना ।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

१३—११

अध्यात्मज्ञान में नित्य स्थिति और तत्वज्ञान के अर्थ को देखना यह सब तो ज्ञान है; और जो इससे विपरीत है वह अज्ञान है—ऐसा कहा है ।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

१३—१२

हे अर्जुन ! जो जानने के योग्य है तथा जिस को जान कर मनुष्य परमानन्द को प्राप्त होता है, उसको अच्छी प्रकार कहूँगा, वह आदि-रहित ब्रह्म अकथनीय होने से न सत् कहा जाता है और न असत् कहा जाता है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

१३—१३

वह सब ओर से हाथ-पैर वाला तथा सब ओर से नेत्र, सिर और मुख वाला तथा सब ओर श्रोत वाला है, क्योंकि वह संसार में सब को व्याप्त करके स्थित है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥

१३—१४

उसमें सब इन्द्रियों के गुणों का आभास है परन्तु वास्तव में वह सब इन्द्रियों से रहित है तथा आसक्ति रहित और गुणों से अतीत हुआ भी सबका धारण-पोषण करने वाला और गुणों को भोगने वाला है।

वहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥

१३—१५

वह सब भूतों के भीतर और बाहर भी है, अचर और चर भी है, सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है और दूर होकर भी समीप है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥

१३—१६

वह विभागरहित, एक रूप से आकाश के सदृश परिपूर्ण हुआ भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में पृथक्-पृथक् की भाँति स्थित प्रतीत होता है तथा वह जानने योग्य परमात्मा विष्णुरूप से भूतों को धारण पोषण करने वाला और रुद्ररूप से संहार करने वाला तथा ब्रह्मरूप से सबको उत्पन्न करने वाला है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

१३—१७

उसे ही तेज का तेज और अन्धकार से परे कहते हैं, वही ज्ञान है, जो जानने योग्य है वह ज्ञेय भी वही है और ज्ञानगम्य अर्थात् ज्ञान से ही विदित होने वाला भी वही है। सबके हृदय में वही अधिष्ठित है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्तं एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥

१३—१८

हे अर्जुन ! इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप में कहा गया। इसको तत्त्व से जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥

१३—१९

प्रकृति और पुरुष दोनों को ही अनादि समझ। विकारों को और गुणों को प्रकृति से ही उपजा हुआ जान।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सतसद्योनिजन्मसु॥

१३—२१

प्रकृति में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का संग ही इस जीवात्मा के अच्छी और बुरी योनियों में जन्म लेने में कारण है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

१३—२२

वास्तव में यह पुरुष इस देह में स्थित हुआ भी पर, अर्थात् त्रिगुण-मयी माया से परे है, केवल साक्षी होने से उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता एवं सबको धारण करने वाला होने से भर्ता, जीवरूप से भोक्ता तथा ब्रह्मादिकों का भी स्वामी होने से परमेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा, ऐसा कहा गया है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

१३—२३

इस प्रकार जो निर्गुण पुरुष को और गुणों समेत प्रकृति को जानता है, वह कैसा ही बर्ताव क्यों न किया करे, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

यावत्संजायते किंचित्सत्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥

१३—२६

हे भरतश्रेष्ठ! स्मरण रख कि स्थावर या जंगम किसी भी वस्तु का निर्माण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से होता है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

१३—२७

सब भूतों में एकसा रहने वाला और सब भूतों का नाश हो जाने पर भी जिसका नाश नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को जिसने देख लिया, उसी ने (सच्चे तत्त्व को) पहचाना है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो यातिपरां गतिम् ॥

१३—२८

क्योंकि वह पुरुष सब में समभाव से स्थित हुए परमेश्वर को समान देखता हुआ अपने द्वारा अपने को नष्ट नहीं करता है, अर्थात् शरीर का नाश होने से अपने आत्मा का नाश नहीं मानता है, अतएव वह परम-गति को प्राप्त होता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

१३—२९

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किया हुआ देखता है तथा आत्मा को अकर्ता देखता है, वही वास्तव में देखता है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

१३—३१

हे अर्जुन ! अनादि होने से, गुणातीत होने से, यह अविनाशी पर-मात्मा शरीर में स्थित हुआ भी वास्तव में न करता है और न लिप्त होता है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥

१३—३२

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिपायमान नहीं होता है, वैसे ही सर्वत्र देह में स्थित हुआ भी आत्मा, गुणातीत होने के कारण देह के गुणों से लिपायमान नहीं होता है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥

१३—३३

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥

१३—३४

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा विकारसहित प्रकृति से छूटने के उपाय को, जो पुरुष ज्ञान-नेत्रों द्वारा तत्त्व से जानते हैं, वे परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

———

२०

प्रकृति के तीन गुण और स्वभाव

जगत् में जो कुछ है सब प्रकृति और पुरुष के संयोग का परिणाम है। यद्यपि सर्वत्र एक ही परमात्मा या परमेश्वर की सत्ता व्याप्त है, तथापि संसार में जो विचित्रता या भिन्नता दीख पड़ती है वह प्रकृति के सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के कारण ही है! यदि हम सृष्टि की ओर देखें तो हमें मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, पत्थर, मिट्टी, सोना, चांदी, जल, वायु आदि अनेक पदार्थ दीख पड़ते हैं और इन सबों के रूप तथा गुण भी अलग अलग हैं। परन्तु इनकी यह भिन्नता मूल में नहीं है। मूल में सब वस्तुओं का द्रव्य या पदार्थ एक ही है। जगत् के सब पदार्थों में जो यह मूल द्रव्य है उसी को प्रकृति कहते हैं। इस प्रकृति से जो भिन्न-भिन्न पदार्थ बनते हैं उन्हें विकृति अर्थात् मूल द्रव्य या प्रकृति के विकार कहते हैं। परन्तु सब पदार्थों में यद्यपि मूल द्रव्य एक ही है, तथापि उनके गुण भिन्न-भिन्न हैं। इसका कारण यह है कि मूल प्रकृति में, जिससे संसार के सब पदार्थ बने हैं केवल एक ही गुण नहीं है। यदि मूल प्रकृति में एक ही गुण होता तो इस एक ही गुण से अनेक गुणों का उत्पन्न होना संभव नहीं था। संसार के भिन्न-भिन्न पदार्थों में दिखाई पड़ने वाले जितने भी गुण हैं सब सत्त्व, रज, तम, इन तीनों वर्गों में बाँटे गये हैं। इन तीनों गुणों में से प्रत्येक गुण का बल आरम्भ में समान रहता है अतएव आरम्भ में यह प्रकृति साम्यावस्था में रहती है। यह साम्यावस्था सृष्टि के प्रारम्भ में थी और सृष्टि का लय होने पर

फिर वही साम्यावस्था आ जायेगी । परन्तु जब सत्व, रज और तम ये तीनों गुण कम या अधिक होने लगते हैं तब प्रवृत्त्यात्मक रजोगुण के कारण मूल प्रकृति से भिन्न भिन्न पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं और सृष्टि का आरम्भ होता है । अब प्रश्न यह उठता है जब सत्व, रज तम ये तीनों गुण साम्यावस्था में थे, तो इनमें कमी या अधिकता कैसे हुई । इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह प्रकृति का स्वाभाविक धर्म है । यद्यपि प्रकृति जड़ है, तथापि उसमें आप ही आप स्वयं व्यवहार भी होता रहता है ।

इन तीनों गुणों में से सत्व गुण का लक्षण ज्ञान और तमोगुण का लक्षण अज्ञान है । रजोगुण भले या बुरे कार्य का प्रवर्तक है । ये तीनों गुण कभी अलग अलग नहीं रह सकते । सब पदार्थों में सत्व, रज और तम तीनों का मिश्रण रहता है और यह मिश्रण तीनों की परस्पर कमी या अधिकता से होता है । संसार में केवल सत्वगुण का या केवल रजो-गुण का या केवल तमोगुण का कोई पदार्थ नहीं है । प्रत्येक पदार्थ में तीनों गुणों का मिश्रण रहता है । जिस पदार्थ में जिस गुण की अधिकता या प्रबलता रहती है, उसी के अनुसार उस पदार्थ को हम सात्विक, राजसिक या तामसिक कहा करते हैं । उदाहरणार्थ हम अपना शरीर ही लें । इस शरीर में रज और तम पर सत्व का प्रभाव अधिक हो जाता है, तब हमारे अन्तःकरण में ज्ञान उत्पन्न होता है, सत्य का परिचय होने लगता है और चित्त-वृत्ति शान्त हो जाती है । परन्तु उस समय यह नहीं समझना चाहिये कि हमारे शरीर से रजोगुण और तमोगुण का बिल्कुल लोप ही हो गया है । उस समय रजोगुण और तमोगुण शरीर में रहते तो हैं, परन्तु सत्वगुण के प्रभाव से दब जाते हैं और उनका अधिकार चलने नहीं पाता । यदि सत्वगुण के स्थान पर रजोगुण प्रबल हो जाता है तो अन्तःकरण में लोभ जागृत हो जाता है; इच्छा बढ़ने लगती है और वह हमें अनेक कार्यों में प्रवृत्त कराती है । इस प्रकार जब सत्वगुण और रजोगुण की अपेक्षा तमोगुण प्रबल हो

जाता है तब प्रमाद, निद्रा, आलस्य आदि दोष शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं। सारांश यह कि इस संसार में जो विभिन्नताएँ दिखाई पड़ती हैं, वह प्रकृति के सत्व, रज और तम इन गुणों का परिणाम हैं। प्रकृति को 'क्षर' या 'प्रधान' भी कहते हैं। क्षेत्रज्ञ या आत्मा इस प्रकृति से भिन्न है। उसी को 'पुरुष' या 'अक्षर' भी कहते हैं। 'पुरुष' प्रकृति से भिन्न है। अतएव वह स्वभावत: प्रकृति के तीनों गुणों से परे रहता है। प्रकृति अचेतन या जड़ है और पुरुष सचेतन है। प्रकृति सब काम किया करती है, किन्तु पुरुष उदासीन और अकर्ता है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है और पुरुष निर्गुण है। प्रकृति अन्धी है और पुरुष साक्षी है। इस प्रकार इस सृष्टि में यही दो तत्त्व अनादि काल से हैं। इसी को ध्यान में रखकर गीता में कहा गया है कि "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि" अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं अर्थात् प्रकृति और पुरुष को छोड़कर इस सृष्टि में और कोई तीसरा मूल कारण नहीं है। अचेतन प्रकृति और सचेतन पुरुष के संयोग से ही सृष्टि के सब कार्य आरम्भ होते हैं। मनुष्य अज्ञान या मोह के कारण प्रकृति के किये हुए कार्य को पुरुष या आत्मा का किया हुआ कार्य समझता है। जब तक मनुष्य इस अज्ञान की दशा में रहता है तब तक वह सुख-दु:ख के भ्रमर में चक्कर खाता रहता है और तब तक उसे मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु जब पुरुष को यह ज्ञान हो जाता है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति भिन्न है और मैं भिन्न हूँ, उस समय वह मुक्त हो जाता है। जैसा कि गीता के इस श्लोक से स्पष्ट है :—

"प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥"

अर्थात् जो पुरुष संपूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति का किया हुआ देखता है तथा आत्मा को अकर्ता समझता है, वही वास्तव में देखता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

आत्मा मूल में ही ब्रह्म-स्वरूप है और जब वह तीनों गुणों से परे अपने मूल स्वरूप को अर्थात् परब्रह्म को पहचान लेता है, तब वह मुक्त, 'त्रिगुणातीत' अर्थात् सत्त्व, रज, और तम इन तीनों गुणों से परे हो जाता है। इसी का विवेचन गीता के निम्नलिखित श्लोकों में बड़ी उत्तम रीति से किया है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

१४—३

हे भारत ! महद् ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है, मैं उस में गर्भ रखता हूँ, फिर उससे समस्त भूत उत्पन्न होने लगता है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

१४—४

हे कौन्तेय, पशु, पक्षी आदि सब योनियों में जो मूर्तियाँ जन्मती हैं उसकी योनि महत् ब्रह्म अर्थात् प्रकृति है और मैं उनका बीजदाता हूँ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥

१४—५

हे महाबाहु ! प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्व, रज और तम गुण देह में रहने वाले इस अव्यय अर्थात् निर्विकार आत्मा को देह में बाँध लेते हैं।

तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥

१४—६

हे निष्पाप ! इन गुणों में निर्मलता के कारण प्रकाश डालने वाला और निर्दोष सत्त्वगुण सुख और ज्ञान के साथ प्राणी को बांधता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥

१४—७

रजोगुण का स्वभाव रागात्मक है, इससे तृष्णा और आसक्ति की उत्पत्ति होती है। हे कौन्तेय ! वह प्राणी को कर्म करने के प्रवृत्तिरूप संग से बाँध लेता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥

१४—८

किन्तु तमोगुण अज्ञान से उपजता है, वह सब प्राणियों को मोह में डालता है। हे भारत ! वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा से प्राणी को बाँध लेता है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥

१४—९

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण सुख में लगाता है। रजोगुण कर्म में लगाता है तथा तमोगुण तो ज्ञान आच्छादन करके अर्थात् ढक के, प्रमाद में लगाता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥

१४—१०

हे अर्जुन। रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण होता है तथा रजोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण होता है, वैसे ही तमोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर रजोगुण होता है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत ।।

१४—११

जब इस देह के सब द्वारों में अर्थात् इन्द्रियों में प्रकाश (निर्मल ज्ञान) उत्पन्न होता हो तब समझना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है ।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।।

१४—१२

हे भरतश्रेष्ठ ! रजोगुण बढ़ने से लोभ, कर्म की ओर प्रवृत्ति और उसका आरम्भ, अशान्ति एवं इच्छा उत्पन्न होती है ।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।

१४—१३

हे कुरुनन्दन ! तमोगुण की वृद्धि होने पर अँधेरा, कुछ भी न करने की इच्छा, प्रमाद अर्थात् कर्तव्य की विस्मृति और मोह उत्पन्न होता है ।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।।

१४—१६

कहा है कि पुण्य कर्म का फल निर्मल और सात्विक होता है । परन्तु राजस कर्म का फल दुःख और तामस कर्म का फल अज्ञान होता है ।

सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।।

१४—१७

सत्त्व से ज्ञान और रजोगुण से केवल लोभ उत्पन्न होता है। तमोगुण से न केवल प्रमाद और मोह ही उपजता है, प्रत्युत अज्ञान की भी उत्पत्ति होती है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतश्नुते ॥
१४—२०

देहधारी मनुष्य देह की उत्पत्ति के कारणस्वरूप उन तीनों गुणों को अतिक्रमण करके जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से विमुक्त होकर अमृत अर्थात् मोक्ष का अनुभव करता है।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
१४—२४

जिसे सुख और दुःख एक-से ही हैं, जो स्वस्थ है अर्थात् अपने में ही स्थिर है; मिट्टी, पत्थर और सोना जिसे समान हैं; प्रिय और अप्रिय, निन्दा तथा स्तुति जिसे समान हैं; जो सदा धैर्य से युक्त है—

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
१४—२५

जिसे मान, अपमान या मित्र और शत्रु तुल्य हैं अर्थात् एक से हैं और जो सब कार्यों में कर्तापन के अभिमान से रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
१४—२६

जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तिरूप योग द्वारा, मेरे को निरन्तर भजता है, वह इन तीनों गुणों को अच्छी प्रकार उल्लंघन करके, सच्चिदानन्द ब्रह्म में एकीभाव होने के योग्य हो जाता है।

———

दैवी तथा आसुरी संपत्ति के लक्षण

सृष्टि में जिस प्रकार प्रकृति के गुणों में भेद होने के कारण विचित्रता या विभिन्नता दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार मनुष्य में भी दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं, एक दैवी संपत्ति वाले मनुष्य होते हैं अर्थात् ऐसे मनुष्य जिनमें दैवी या उत्तम गुणों का समावेश होता है और दूसरे आसुरी संपत्ति वाले मनुष्य जिनमें आसुरी या निकृष्ट गुणों की प्रबलता देखी जाती है। दैवी संपत्ति वाले पुरुष संसार की सेवा और उसका धारण-पोषण करने वाले होते हैं और आसुरी संपत्ति वाले मनुष्य संसार को हानि पहुँचाने वाले और उसका नाश करने वाले होते हैं। दैवी तथा आसुरी संपत्ति के लक्षण गीता के सोलहवें अध्याय में विस्तार के साथ दिये गये हैं, जो नीचे उद्धृत किये जाते हैं--

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

१६—१, २, ३,

श्री भगवान् ने कहा—अभय, शुद्धसात्विक वृत्ति, ज्ञानयोगव्यवस्थिति अर्थात् ज्ञान-मार्ग और कर्मयोग की तारतम्य से व्यवस्था, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात् स्वधर्म के अनुसार आचरण, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्मफल का त्याग, शान्ति, अपैशुन्य अर्थात् क्षुद्र-दृष्टि छोड़कर उदारभाव रखना, सब भूतों में दया, तृष्णा न रखना, मृदुता, बुरे काम की लाज, अचपलता अर्थात् फिजूल कामों का छूट जाना, तेजस्विता, क्षमा, धृति, शुद्धता, द्रोह न करना, अति मान न रखना, हे भारत ! ये गुण दैवी सम्पत्ति में जन्मे हुए पुरुषों को प्राप्त होते हैं ।

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ।।

१६—४

हे पार्थ ! दम्भ, दर्प, अति मान, क्रोध, पारुष्य अर्थात् निष्ठुरता और अज्ञान आसुरी अर्थात् राक्षसी सम्पत्ति में जन्मे हुए को प्राप्त होते हैं ।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।।

१६—६

हे अर्जुन ! इस लोक में प्राणियों के स्वभाव दो प्रकार के माने गये हैं, एक तो देवों के जैसा और दूसरा असुरों के जैसा । उन में से देवों का स्वभाव विस्तारपूर्वक कहा गया है । अब असुरों के स्वभाव को भी विस्तारपूर्वक मेरे से सुनो—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।।

१६—७

हे अर्जुन ! आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य कर्तव्य-कार्य में कैसे प्रवृत्त होना और अकर्तव्य-कार्य से कैसे निवृत्त होना यह नहीं जानते हैं, इसलिए

उनमें न तो बाहर-भीतर की शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्य-भाषण ही है ।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥

१६—८

तथा आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् आश्रय-रहित और सर्वथा झूठा एवं बिना ईश्वर के अपने-आप एक दूसरे के बिना उत्पन्न हुआ है, इसलिए केवल भोगों को भोगने के लिए ही है, इसके सिवाय और क्या है !

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥

१६—९

इस प्रकार मिथ्या ज्ञान को अवलम्बन करके नष्टात्मा, मन्दबुद्धि, सबका अपकार करने वाले, क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत् का नाश करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं ।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥

१६-१०

ऐसे मनुष्य दम्भ, मान और मद से युक्त हुए, किसी प्रकार भी न पूर्ण होने वाली कामनाओं का आसरा लेकर तथा अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके, भ्रष्ट आचरणों से युक्त होकर, संसार में बर्तते हैं ।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

१६—११

तथा वे मरणपर्यन्त रहनेवाली अनन्त चिन्ताओं को लिये हुए और विषय-भोगों के भोगने में तत्पर हुए, इतना मात्र ही आनन्द है, ऐसे माननेवाले होते हैं ।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ।।

१६—१२

इसलिए, आशारूप सैकड़ों जालों से बँधे हुए और काम-क्रोध के वश में होकर, विषयभोगों की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक धनादिक बहुत से पदार्थों को संग्रह करने की चेष्टा करते रहते हैं ।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।।

१६—१३

उन पुरुषों के विचार इस प्रकार के होते हैं कि मैंने आज तो यह पाया है और अब इस मनोरथ को प्राप्त करूँगा तथा मेरे पास यह इतना धन है और फिर इतना धन और होगा ।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।।

१६—१४

तथा वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूँगा तथा मैं ईश्वर हूँ और ऐश्वर्य को भोगनेवाला हूँ और मैं सब सिद्धियों से युक्त एवं धनवान् और सुखी हूँ ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।।

१६—१५

तथा मैं बड़ा धनवान् और बड़े कुटुम्बवाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, दान दूंगा, हर्ष को प्राप्त होऊँगा, इस प्रकार के अज्ञान से वे मोहित हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

१६—१६

अतएव वे अनेक प्रकार से चक्कर में पड़े हुए अज्ञानीजन मोहरूप जाल में फँसे हुए तथा विषय-भोगों में अत्यन्त आसक्त होकर महान् अपवित्र नरक में गिरते हैं।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

१६—२०

इसलिए हे अर्जुन ! वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्म में आसुरी योनि प्राप्त हुए मेरे को न प्राप्त होकर, उससे भी अति नीच गति को ही प्राप्त होते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

१६—२१

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं। ये हमारा नाश कर डालते हैं, इसलिए इन तीनों का त्याग करना चाहिए।

२२

तीन प्रकार की श्रद्धा

प्रत्येक मनुष्य अपना एक विशेष स्वभाव लेकर उत्पन्न होता है। यह उसका स्वभाव उसके किये हुए संचित कर्मों के संस्कार का परिणाम होता है। उसी संस्कार के अनुसार उसकी श्रद्धा भी बनती है। अतएव जैसी श्रद्धा हम अपने हृदय में रखेंगे वैसी ही प्रतिक्रिया हमारे जीवन पर होगी। अतएव हमें अपने सामने अच्छे आदर्श रखने और उन आदर्शों के पीछे श्रद्धा के साथ चलने की आवश्यकता है। हमें कोई भी धार्मिक कृत्य या अन्य कोई कार्य जैसे यज्ञ, दान, तप, पूजा आदि केवल दिखावट के लिए या केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए, नहीं करना चाहिए। जो तप, यज्ञ, दान आदि केवल दिखावट के लिए या अपना अभिमान अथवा महत्व प्रगट करने के लिए किया जाता है, उससे कोई भलाई तो होती नहीं, प्रत्युत उलटी हानि ही होती है, क्योंकि उससे मनुष्य की आत्मा पतित हो जाती है और वह आगे उन्नति नहीं कर सकती। तीनों गुणों के अनुसार मनुष्य की श्रद्धा भी तीन प्रकार की होती है। इसी का प्रतिपादन गीता में निम्नलिखित श्लोकों में किया गया है—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥

प्राणि-मात्र की श्रद्धा स्वभावतः तीन प्रकार की होती है:- एक सात्विक, दूसरी राजस और तीसरी तामस। इनका वर्णन सुनो—

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

१७—३

हे भारत ! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है तथा पुरुष श्रद्धामय है, इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धा वाला होता है, वैसा ही वह होता है।

यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥

१७—४

जो पुरुष सात्विक हैं अर्थात् जिनका स्वभाव सत्वगुण-प्रधान है वे देवताओं का भजन करते हैं। राजस पुरुष यक्षों और राक्षसों की पूजा करते हैं; एवं इनके अतिरिक्त जो तामस पुरुष हैं, वे प्रेतों और भूतों की पूजा करते हैं।

———

तीन प्रकार का तप

शरीर, वाणी या मन के अनुसार तप भी तीन प्रकार का है— शारीरिक् तप, वाचसिक तप और मानसिक तप। गुरुजनों की भक्ति, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शारीरिक तप कहा गया है। सत्य,प्रिय तथा मधुर भाषण और वेद- शास्त्रों के पठन-पाठन को वाणी का तप कहा गया है। मन को प्रसन्न, शान्त तथा वश में करने का अभ्यास और अन्तःकरण की पवित्रता, यह मानसिक तप कहा गया है। तप बिना किसी स्वार्थ के स्वयं एक अच्छा कार्य समझ कर ही करना चहिये।

जो तप, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक या वाचिक, निष्काम दृष्टि से या बिना फल की इच्छा से, परम श्रद्धा के साथ किया जाता है, वह तप सात्विक गिना जाता है। जो तप सत्कार या नाम पाने की इच्छा से या केवल पाखण्ड के लिए किया जाता है, वह राजसिक तप माना जाता है। जो तप मूर्खतावश हठ से या दूसरे को हानि और अनिष्ट पहुँचाने के लिए किया जाता है, उसको तामसिक कहा जाता है। इसी का वर्णन निम्नलिखित श्लोकों में किया गया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

१७—१४

देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शरीर का, अर्थात् कायिक, तप कहते हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
१७—१५

मन को उद्वेग न पहुंचाने वाले, प्रिय और हितकारक सम्भाषण को तथा स्वाध्याय को वाङ्मय, अर्थात् वाचिक, तप कहते हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥
१७—१७

हे अर्जुन ! फल को न चाहने वाले निष्काम कर्म-योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए पूर्वोक्त तीन प्रकार के तप को सात्विक तप कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥
१७—१८

जो तप, सत्कार, मान और पूजा के लिए अथवा केवल पाखण्ड से ही किया जाता है, वह अनिश्चित और क्षणिक फल वाला तप, राजस तप कहा गया है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥
१७—१९

जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से मन, वाणी और शरीर को पीड़ा देकर अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह तप तामस तप कहा गया है।

———

तीन प्रकार के यज्ञ

सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के अनुसार यज्ञ भी तीन प्रकार के होते हैं। जो यज्ञ बिना फल की इच्छा से केवल कर्त्तव्य कर्म समझकर, विधिपूर्वक किया जाता है वह यज्ञ सात्विक यज्ञ कहा गया है और जो यज्ञ केवल दम्भ के लिए, अथवा किसी फल की इच्छा से, किया जाता है, वह यज्ञ राजसिक यज्ञ कहा गया है और जो यज्ञ बिना श्रद्धा के तथा बिना विधि के किया जाता है, वह यज्ञ तामसिक यज्ञ कहा गया है। तीन प्रकार के यज्ञों का वर्णन गीता के निम्न श्लोकों में किया गया है—

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ॥

१७—११

हे अर्जुन ! जो यज्ञ, शास्त्रविधि से नियत किया हुआ है तथा करना ही कर्त्तव्य है ऐसे मन का समाधान करके फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा किया जाता है, वह यज्ञ सात्विक है।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥

१७—१२

हे अर्जुन ! जो यज्ञ केवल दम्भाचरण के लिए ही अथवा फल का उद्देश्य रखकर किया जाता है, उस यज्ञ को तू राजस जान।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥

१७—१३

शास्त्रविधि से हीन और अन्न दान से रहित एवं बिना मन्त्रों के, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किये हुए यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं।

तीन प्रकार का दान

जिस अभिप्राय या उद्देश्य से दान दिया-जाय उसके अनुसार दान भी तीन प्रकार का अर्थात् सात्विक, राजसिक या तामसिक होता है। हमें दान प्रसन्नतापूर्वक देना चाहिए न कि बेमन से या किसी दबाव के कारण। इसी प्रकार हमें दान कर्तव्य कर्म समझ कर ही करना चाहिए न कि किसी स्वार्थ या फल की आशा से। जो दान बदला पाने या अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करने की इच्छा से किया जाता है या जो कुपात्र को बुरे काम के लिए दिया जाता है, वह दान निकृष्ट या तामसिक दान माना गया है। दान कितने प्रकार का होता है और कैसा दान देना चाहिए, कैसा दान न देना चाहिए, इसका वर्णन गीता के निम्न श्लोकों में है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥

१७—२०, २१, २२

वह दान सात्त्विक कहलाता है जो कर्तव्य-बुद्धिसे दिया जाता है, जो योग्य स्थान, काल और पात्र का विचार करके दिया जाता है तथा जो अपने ऊपर उपकार न करने वाले को दिया जाता है।

परन्तु किये हुए उपकार के वदले में अथवा किसी फल की आशा रख, बड़ी कठिनाई से जो दान दिया जाता है, वह राजस दान है।

अयोग्य स्थान में, अयोग्य काम में, अपात्र मनुष्य को, बिना सत्कार के अथवा अवहेलना-पूर्वक जो दान दिया जाता है, वह तामस दान कहलाता है।

———

तीन प्रकार का भोजन

कहावत है "जैसा खाय अन्न वैसा बने मन" अर्थात् प्रतिदिन जो भोजन हम करते हैं उसका प्रभाव हमारे मन, हमारे शरीर और हमारे चरित्र पर अवश्य पड़ता है। हमारा भोजन भी सत्त्व, रज, और तम इन तीन गुणों के अनुसार सात्त्विक, राजसिक और तामसिक होता है : जो भोजन आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य आदि को बढ़ाने वाला तथा रस-युक्त होता है वह सात्त्विक भोजन है। जो भोजन कडुवा, खट्टा, तीता, अत्यन्त गरम, रूखा, दाहकारक और स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाला है, वह राजसिक भोजन है। जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट या अपवित्र होता है, वह तामसिक भोजन कहा जाता है। सात्विक भोजन से शरीर, मन और आत्मा को बल और पुष्टि मिलती है तथा तामसिक भोजन से शरीर, मन और आत्मा दिन-पर-दिन क्षीणता को प्राप्त होता है। इस विषय का विवेचन गीता के निम्नलिखित श्लोकों में है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥

१७—८

आयु, सात्विक वृत्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति की वृद्धिकरने वाले, रसीले, स्निग्ध, शरीर में भिदकर चिरकाल तक रहने वाले और

मन को आनन्ददायक आहार सात्विक मनुष्य को प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिन: ।
आहारा राजसस्येष्टाः दुखशोकामयप्रदाः ॥

१७—६

कटु अर्थात् चटपटे, खट्टे, खारे, अत्युष्ण, तीखे, रूखे, दाहकारक तथा दु:ख, शोक और रोग उपजाने वाले आहार राजस मनुष्य को प्रिय होते हैं

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्ठमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

१७—६

कुछ काल का रखा हुआ अर्थात् ठण्डा, नीरस, दुर्गन्धित, वासी, जूठा तथा अपवित्र भोजन तामस पुरुष को रुचता है।

२७

तीन प्रकार का त्याग

सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के अनुसार त्याग भी गीता में तीन प्रकार का कहा गया है। कर्मयोग में सब कर्मों के दो विभाग किये गये हैं—एक काम्य और दूसरे निष्काम। मनुस्मृति में इन्हीं को प्रवृत कर्म और निवृत कर्म कहा गया है। कर्म चाहे किसी प्रकार के हों वे सब काम्य अथवा निष्काम, इन दो में से किसी एक विभाग के अन्दर आ जाते हैं। किसी फल की इच्छा रखकर कोई काम किया जाय तो वह काम्य है; और मन में फल की इच्छा न रखकर वही कर्म केवल कर्त्तव्य समझ कर किया जाय, तो वह कर्म निष्काम हो जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि कोई कर्म ऐसा नहीं है जिसमें कुछ न कुछ दोष न हो, अतएव उसका सर्वथा त्याग करना ही चाहिए। परन्तु उनका यह भ्रम है। कर्म का दोष कर्म में नहीं वरन् कर्म की फलाशा में है। अतएव कर्म को न त्याग कर केवल फल की इच्छा या आशा को त्यागना चाहिए। अपने गुण, स्वभाव या धर्म के अनुसार जो कर्म प्राप्त हो जाए, उसे अहंकार, बुद्धि या फलाशा छोड़ कर, करते रहना ही सच्चा त्याग है। कर्मों को छोड़ बैठना सच्चा त्याग नहीं है। कर्म को न छोड़कर केवल फल की आशा छोड़कर जो कर्म करता है वही सच्चा त्यागी है ऐसे त्यागी पुरुष को कर्म के कोई भी फल बन्धक नहीं होते। इसी विषय का प्रतिपादन गीता के निम्न श्लोकों में किया गया है :—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।।

१८—२

जितने काम्य कर्म हैं, उनके न्यास, अर्थात् छोड़ने, को ज्ञानी लोग संन्यास समझते हैं, अर्थात् समस्त कर्मों के फल के त्याग को पण्डित लोग त्याग कहते हैं।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ।।

१८—३

तथा कई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्म सभी दोषयुक्त हैं, इसलिए त्यागने योग्य हैं और दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं कि यज्ञ दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।।

१८—४

परन्तु हे अर्जुन ! त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को सुन। हे पुरुषश्रेष्ठ ! त्याग सात्विक, राजस और तामस ऐसे तीन प्रकार का कहा गया है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।।

१८—७

जो कर्म स्वधर्म के अनुसार नियत (स्थिर) कर दिए गए हैं, उनका संन्यास यानी त्याग करना किसी को भी उचित नहीं है। उनका मोह से किया गया त्याग तामस कहलाता है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥

१८—८

शरीर को कष्ट देने के डर से अर्थात् दुःखकारक होने के कारण ही यदि कोई कर्म छोड़ दे, तो उसका वह त्याग राजस हो जाता है अर्थात् त्याग का फल उसे नहीं मिलता ।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥

१८—९

हे अर्जुन ! स्वधर्मानुसार नियत कर्म जब कर्त्तव्य समझ कर और आसक्ति एवं फल को छोड़कर किया जाता है तब वह त्याग सात्विक त्याग समझा जाता है ।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥

१८—११

जो देहधारी है, उससे कर्मों का निःशेष त्याग होना सम्भव नहीं है । अतएव जिसने (कर्म न छोड़कर) केवल कर्म-फलों का त्याग किया हो, वही सच्चा त्यागी अर्थात् ज्ञानी है ।

———

तीन प्रकार के ज्ञान

सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों के अनुसार ज्ञान भी सात्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार का गीता में कहा गया है। अपने बाल-बच्चों और स्त्री-कुटुम्ब को ही सारा संसार समझना तामस ज्ञान है। इससे कुछ ऊँचा उठने पर मनुष्य को, अपने ग्राम अथवा देश के रहने वाले प्राणी, अपने से जंचने लगते हैं, परन्तु तब भी यह बुद्धि तो बनी रहती है कि भिन्न-भिन्न गांवों अथवा देशों के लोग भिन्न-भिन्न हैं। यह ज्ञान राजसिक ज्ञान है। परन्तु इससे ऊँचा उठने पर मनुष्य को प्राणिमात्र में एक ही आत्मा दिखाई पड़ने लगती है। तब यही ज्ञान पूर्ण और सात्विक ज्ञान होता है। सारांश यह है कि 'विभक्त' में 'अविभक्त' अर्थात् 'अनेकता' में 'एकता' को पहचानना ही सच्चे ज्ञान का लक्षण है। गीता के निम्न श्लोकों में इसी विषय का विवेचन किया गया है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ।।

१८—२०

हे अर्जुन ! जिससे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्मभाव को विभाग-रहित, सम भाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तू सात्विक जान।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥

१८—२१

जिस ज्ञान के द्वारा, मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक भावों को न्यारा करके जानता है उस ज्ञान को तू राजस ज्ञान जान ।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥

१८—२२

जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीर में ही संपूर्णतया के सदृश आसक्त हो अर्थात् जिस विपरीत ज्ञान के द्वारा मनुष्य एक क्षण-भंगुर नाशवान् शरीर को ही आत्मा मानकर, उसमें सर्वस्व की भाँति आसक्त रहता है तथा जो बिना युक्तिवाला, तत्व अर्थ से रहित और तुच्छ है, वह ज्ञान तामस कहा गया है ।

२६

तीन प्रकार के कर्म

इसी तरह गुणों के अनुसार कर्म भी सात्विक, राजसिक और ताम-सिक तीन प्रकार के कहे गये हैं। यह संसार कर्ममय है। इसमें बिना कर्म के एक क्षण भी जीवित रहना हमारे लिए असम्भव है। जैसा कि गीता में कहा भी है कि "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" अर्थात् इस जगत् में कोई क्षणभर बिना कर्म के नहीं रह सकता। मनुष्यों की तो बात क्या सूर्य-चन्द्रमा तारे आदि भी निरन्तर कर्म करते रहते हैं। सारांश यह है कि कर्म ही सृष्टि है और सृष्टि ही कर्म है। इसलिए हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सृष्टि की घटनाओं को अथवा कर्म को क्षणभर के लिए विश्राम नहीं मिलता। स्वयं भगवान् को भी प्रत्येक युग में भिन्न-भिन्न अवतार लेकर इस संसार में साधुओं की रक्षा और दुष्टों का विनाशरूप कर्म करना पड़ता है। अतएव गीता में उन्होंने कहा है— "उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्" अर्थात् यदि मैं कर्म न करूं तो संसार उजड़कर नष्ट हो जाय। इसलिए श्री भगवान् ने अर्जुन को निमित्त कर गीता में यह उपदेश दिया है कि इस संसार में कर्म किसी से छूट नहीं सकते। अतएव कर्मों की बाधा से बचने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने धर्मानुसार प्राप्त कर्त्तव्य को फल की आशा त्याग कर, निष्काम बुद्धि से सदा करता रहे। यही निष्काम भावना से किया हुआ कर्म सात्विक कर्म है। इसके विपरीत जो कर्म-फल की इच्छा से या अहंकार बुद्धि से किया जाता है, वह राजसिक कर्म है और जो

कर्म बिना परिणाम सोचे हुए किया जाता है कि इससे क्या हानि होगी और कितनी हिंसा होगी, वह कर्म तामसिक कर्म कहा गया है। कर्म के इन तीनों विभागों का वर्णन गीता के निम्नलिखित श्लोकों में किया गया है—

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ।।

१८—२३

फल-प्राप्ति की इच्छा न करने वाला मनुष्य मन में न तो प्रेम और न द्वेष रखकर, बिना आसक्ति के स्वधर्मानुसार जो नियत अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म करता है, उस कर्म को सात्विक कहते हैं।

यत्तु कामेप्सुना कर्त्ता साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।।

१८—२४

परन्तु काम अर्थात् फल की इच्छा रखने वाला अथवा अहंकार-बुद्धि का मनुष्य बड़े परिश्रम से जो काम करता है उसे राजस कहते हैं।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।

१८—२५

तामस कर्म वह है जो मोह से, बिना इन बातों का विचार किये आरम्भ किया जाता है कि इसका परिणाम क्या होगा; पौरुष अर्थात् अपना सामर्थ्य कितना है और भविष्य में इससे कितना नाश अथवा हिंसा होगी।

तीन प्रकार के कर्त्ता

सत्व, रज और तम इन गुणों के अनुसार तीन प्रकार के कर्म ऊपर कहे गये हैं। कर्म के अनुसार तीन प्रकार के कर्ता (कर्म करनेवाले) भी होते हैं, जो क्रमशः सात्विक, राजस और तामस कहे गये हैं। इनमें सात्विक कर्ता वह है, जो आसक्ति तथा अहंकार से रहित होकर कार्य की सिद्धि होने अथवा न होने पर हर्ष, शोकादि विकारों से परे रहता है तथा धैर्य और उत्साह के साथ कार्य में लगा रहता है। राजस कर्ता वह है जो विषय और लोभ के वश में होकर कर्मफल की इच्छा से तथा हिंसात्मक अथवा अपवित्र भावना से प्रेरित होकर, कार्य करता है। तामस कर्ता वह है जो आलसी, दीर्घसूत्री, अप्रसन्नचित, दूसरों की हानि करनेवाला तथा चंचल बुद्धि से काम करनेवाला है। गीता के निम्न श्लोकों में इन्हीं तीन प्रकार के कर्ताओं का वर्णन किया गया है—

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते ॥

१८—२६

जिसे आसक्ति नहीं रहती, जो मैं और मेरा ऐसा नहीं कहता और जो कार्यं की सिद्धि हो या न हो, दोनों परिणामों के समय मन में विकार-रहित, धृति और उत्साह के साथ कर्म करता रहता है, उसे सात्विक कर्ता कहते हैं।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।।

१८—२७

विषयासक्त, लोभी, सिद्धि के समय हर्ष और असिद्धि के समय शोक से युक्त, कर्मफल पाने की इच्छा रखनेवाला, हिंसात्मक और अपवित्र आचरण वाला कर्ता राजस कहलाता है ।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ।।

१८—२८

अयुक्त अर्थात् चंचल बुद्धिवाला, असभ्य, गर्व से फूलनेवाला, ठग, नैष्कृतिक यानि दूसरों की हानि करनेवाला, आलसी, अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री अर्थात् देरी लगानेवाला या घड़ी भर का काम महीने भर में करनेवाला कर्ता तामस कहलाता है ।

तीन प्रकार की बुद्धि

सत्व, रज, और तम इन तीनो गुणों के अनुसार मनुष्य की बुद्धि भी तीन प्रकार की होती है। किस बुद्धि से हमें क्या करना चाहिए, क्या न करना चाहिए, किससे डरना चाहिए, किससे न डरना चाहिए, किससे बन्धन होता है और किससे मोक्ष—यह ज्ञान हो, उस बुद्धि को सात्विक बुद्धि कहते हैं। अर्थात् सदसद् विवेकवती बुद्धि ही सात्विक बुद्धि है। जो बुद्धि इसके विपरीत है, वह क्रमशः राजसी या तामसी बुद्धि कही गयी है। तीनों बुद्धियों का वर्णन गीता के निम्न श्लोकों में दिया गया है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥

१८—३०

हे पार्थ! प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग को तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को, भय और अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को जो बुद्धि तत्व से जानती है, वह बुद्धि सात्विकी है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥

१८—३१

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

१८—३८

इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से होने वाला अर्थात् आधि-भौतिक सुख राजस कहा जाता है, जो पहिले तो अमृत के समान है पर अन्त में विष-सा रहता है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

१८—३९

और जो आरम्भ में तथा परिणाम में भी मनुष्य को मोह में फंसाता है और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद अर्थात् कर्त्तव्य की भूल उपजता है, उसे तामस सुख कहते हैं।

———

चार वर्णों के कर्त्तव्य

संसार में जो विभिन्नता वा विचित्रता दीख पड़ती है, वह प्रकृति के गुणों में भेद होने से ही उत्पन्न हुई है। इसी प्रकृति के गुण-भेद के कारण ही समाज या लोक में चार प्रकार के मनुष्य दीख पड़ते हैं। एक तो वे जो बुद्धिजीवी या अपने मस्तिष्क से काम करने वाले हैं, उन्हें ब्राह्मण की पदवी दी गयी है। दूसरे वे जो अपने बाहुबल से समाज की रक्षा करते हैं या समाज का शासन चलाते हैं, ऐसे लोगों को क्षत्रिय पदवी दी गयी है। तीसरे वे जो कृषि, व्यापार आदि के द्वारा समाज को हरा-भरा, सुखी और उन्नत बनाते हैं, उनको वैश्य की पदवी दी गयी है। और चौथे वे जो हाथ पैर से परिश्रम करके, समाज के लाभ के लिए भिन्न-भिन्न वस्तुओं का निर्माण करते हैं, एसे मनुष्यों को शूद्र की पदवी दी गई है। समाज के ये चारों ही विभाग चार वर्ण के नाम से कहे गये हैं। इन चारों वर्णों की उत्पत्ति गुण-कर्म के अनुसार हुई है, जैसा कि भगवान् ने गीता में अपने श्री मुख से कहा है—"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों को मैंने गुण-कर्म के अनुसार उत्पन्न किया है। इनमें कोई छोटा या बड़ा नहीं है। ये चारों ही वर्ण और उनके द्वारा किये जाने वाले कार्य समाज के लिए आवश्यक हैं। जब इनमें से किसी वर्ण की कोई हानि हो जाती है, या कोई वर्ण अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है तो सारा समाज भिन्न-भिन्न होने लगता है। इसलिए गीता में श्रीभगवान् ने चारों वर्णों के कर्त्तव्यों का दिग्दर्शन कराते हुए

इस बात पर जोर दिया है कि प्रत्येक वर्ण के जिम्मे समाज के जो काम रक्खे गये हैं, उनका पालन उस वर्ण के द्वारा यथेष्ट रीति से होना चाहिये। प्रत्येक वर्ण को अपने कर्तव्य, दूसरे वर्णों के साथ सहयोग करते हुए, निष्काम और निःस्वार्थ समाज-सेवा के भाव से करने चाहियें। गीता की वह शिक्षा केवल भारतवर्ष के लिए ही नहीं है, यह सब देश और सब समाज के लिए समान रूप से लागू है, चाहे समाज किसी प्रकार का हो। जब तक समाज के उक्त चारों विभाग आपस में सहयोग करते हुए, कर्तव्य बुद्धि से अपने कार्य को नहीं करेंगे, तबतक वह समाज टिका नहीं रह सकता। समाज में कोई ऐसा कार्य नहीं है जिसके प्रति मनुष्य यह कहे कि "वस यही कार्य उत्तम और अच्छा है और इसमें कोई दोष नहीं है। अतएव जो कार्य मेरे जिम्मे आ पड़ा है उसे छोड़कर, मैं इसी को पसन्द करूंगा।" परन्तु ऐसा समझना उसका भ्रम है। संसार में कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जिसमें दोष न हो। अच्छे से अच्छे कार्य में भी कुछ-न-कुछ दोष विद्यमान रहता ही है, परन्तु एक वस्तु है जो उस दोष को दूर कर देती है। वह है निष्काम या निःस्वार्थ भाव से कर्म करने की प्रवृत्ति या भावना। समाज या लोक-हित के लिए सबों के साथ सहयोग रखते हुए यही निष्काम कर्म करने की भावना या निष्काम कर्म-योग, परब्रह्म परमात्मा या परमेश्वर की सच्ची और वास्तविक पूजा है और इसी से परमसिद्धि की भी प्राप्ति हो सकती है।

किसी भी कारण से क्यों न हो, जब एकबार किसी कर्म को अपना लिया जाय तो फिर उसकी कठिनाई या दोष को परवाह न करते हुए उसे निष्काम भाव से करते रहना चाहिए- क्योंकि मनुष्य का बड़प्पन या छोटापन उसके व्यवसाय पर नहीं, परन्तु जिस बुद्धि से वह कार्य करता है उस पर निर्भर है। जिसका मन शान्त है और जिसने सब प्राणियों में एक ही आत्मा की एकता को पहचान लिया है, वह मनुष्य वर्ण या व्यवसाय से चाहे व्यापारी हो चाहे कसाई, निष्काम भावना से

अपना व्यवसाय करनेवाला वह मनुष्य, स्नान-सन्ध्या-शील ब्राह्मण अथवा शूरवीर क्षत्रिय के समान, श्रद्धा के योग्य और मोक्ष का अधिकारी है। चारों वर्णों के कर्त्तव्यों के संम्बन्ध में गीता के उपदेश का यही निचोड़ है। नीचे गीता के श्लोकों में इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

१८—४१

हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म उनके स्वभावजन्य अर्थात् प्रकृतिसिद्ध गुणों के अनुसार पृथक्-पृथक् बंटे हुए हैं।

शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

१८—४२

ब्राह्मण का स्वभाव-जन्य कर्म, शम, दम, तप, पवित्रता, शान्ति, सरलता (आर्जव) ज्ञान अर्थात् विविध-ज्ञान और आस्तिक्य बुद्धि है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

१८—४३

शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और प्रजा पर शासन करना क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

१८—४४

कृषि अर्थात् खेती, गौरक्षा अर्थात् पशुपालन और वाणिज्य अर्थात् व्यापार वैश्यों का स्वभावजन्य कर्म हैं और इसी प्रकार सेवा करना शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥

१८—४८

एवं इस अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धि को प्राप्त होता है, परन्तु जिस विधि से अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है, उस निधि को तू मेरे से सुन।

यतः प्रवृतिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

१८—४६

हे अर्जुन ! जिस परमात्मा से सर्व भूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है उस परमेश्वर को अपने स्वाभाविक कर्म भर पूज कर मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥

१८—४७

इसलिए, अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्म को करता हुआ मनुष्य, पाप को नहीं प्राप्त होता।

यदि पर-धर्म का आचरण सहज भी हो तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्य-विहित कर्म विगुण अर्थात् सदोष होने पर भी अधिक कल्याणकारक है। स्वभाव-सिद्ध अर्थात् गुण-स्वभावानुसार

निर्मित की हुई चातुवर्ण्य-व्यवस्था द्वारा नियत किया हुआ अपना कर्म करने में कोई पाप नहीं लगता ।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृतः ॥

१८—४८

हे कौन्तेय ! जो कर्म जन्म से ही गुणकर्मविभागानुसार नियत हो गया है, वह सदोष हो तो भी उसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि सभी आरम्भ अर्थात् कर्म किसी-न-किसी दोष से वैसे ही व्याप्त रहते हैं, जैसे कि धुएँ से आग घिरी रहती है ।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धि परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥

१८—४९

अतएव कहीं भी आसक्ति न रखकर, मन को वश में करके, निष्काम बुद्धि से चलने पर, कर्मफल के संन्यास द्वारा मनुष्य, परमगति, नैष्कर्म्य-सिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ।

———

३४

उपसंहार

अन्त में श्री भगवान् ने अर्जुन को केवल निमित्त बनाकर गीता में मनुष्यमात्र को यह उपदेश और आश्वासन दिया है कि कर्म तो प्रकृति का धर्म है, तू उसे छोड़ना भी चाहे तो वह तुझसे छूट नहीं सकता, यह समझकर कि करने वाला और करानेवाला सब परमेश्वर ही है, तू उसकी शरण में जा और अपने सब काम फल की आशा छोड़कर निष्काम बुद्धि से करता जा। मैं ही वह परमेश्वर हूँ, मुझ पर विश्वास रख, मुझे भज, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, मेरी दृढ़ भक्ति करके मत्परायण बुद्धि से स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्म करते जाने पर, इहलोक तथा परलोक, सर्वत्र तेरा कल्याण होगा। भय मत कर, मैं तुझ को आश्वासन देता हूँ। गीता का यह आश्वासन निम्न श्लोकों में प्राणिमात्र के लिए है—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥

१८—४९

कहीं भी आसक्ति न रखकर, मनको वश में करके, निष्काम बुद्धि से चलने पर कर्म फल के संन्यास द्वारा, परम नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्म भूयाय कल्पते ।।

१८—५३

अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह अर्थात् लोभ को छोड़-कर शान्त एवं ममता से रहित मनुष्य ब्रह्मभूत और ब्रह्म में लीन होने के लिए समर्थ होता है ।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।

१८—५४

ब्रह्म में लीन होने पर प्रसन्नचित्त वाला पुरुष न तो किसी वस्तु के लिए ही शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है तथा समस्त प्राणिमात्र में समभाव रखकर मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है ।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः ।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।

१८—५५

भक्ति से उसको मेरा तात्त्विक ज्ञान हो जाता है कि मैं कौन हूँ । इस प्रकार से मेरा तात्त्विक ज्ञान हो जाने पर वह मुझ में ही प्रवेश करता है ।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।

१८—५६

मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी संपूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी, मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परमपद को प्राप्त होता है ।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भवः ॥

१८—५७

अतएव सब कर्मों को मन से मेरे में अर्पण करके मेरे परायण होता हुआ, समत्व बुद्धि रूप निष्काम कर्मयोग को अवलम्बन करके, निरन्तर मेरे में चित्तवाला हो ।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥

१८—५८

इस प्रकार मेरे मन में निरन्तर चित्त लगाने पर तू मेरी कृपा से जन्म-मृत्यु आदि सब संकटों को अनायास ही तर जायगा और यदि अहंकार के कारण, मेरे वचनों को नहीं सुनेगा तो अवश्य नष्ट हो जायगा ।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

१८—५९

यदि तू अहंकार का अवलम्बन करके यह मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा तो यह तेरा निश्चय व्यर्थ है, क्योंकि क्षत्रियपन की प्रकृति अर्थात् स्वभाव तेरे को बलपूर्वक युद्ध में लगा देगी ।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

१८—६०

हे अर्जुन ! जिस कर्म को तू मोह से नहीं करना चाहता है, अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बंधा होकर तुझे परवश होकर करना पड़ेगा ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ।।

१८—६१

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदयों में रहकर अपनी माया से प्राणिमात्र को ऐसे घुमा रहा है, मानों वे किसी यन्त्र पर चढ़ाये हुए हों।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।

१८—६२

इसलिए हे भारत ! तू सर्व भाव से उसी की शरण में जा। उसके अनुग्रह से तुझे परम शान्ति और सनातन नित्य स्थान प्राप्त होगा।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।

१८—६५

मुझ ईश्वर में अपना मन रख, मेरा भक्त हो, मेरा भजन कर और मेरी ही बन्दना कर ! मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि इससे तू मुझमें आ मिलेगा, क्योंकि तू मेरा प्यारा भक्त है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माऽशुचः ।।

१८—६६

सब धर्मों को अर्थात् सब कर्मों के फलाशारूप आश्रय को त्याग कर तू केवल मेरी ही शरण में आ जा, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा ! भय और शोक मत कर !

———

हमारा प्रकाशन

हिन्दी—

१—हिन्दू गौरव गान	१.००
२—हिन्दू धर्म प्रवेशिका	१.००
३—सिखों के दश गुरु	०.७५
४—गीता-सार	०.६२
५—तुलसी-रामायण संग्रह	०.३७
६—परमात्मा से विनय-विवाद	०.१२
७—आर्य संस्कृति गौरव-गान	०.२५
८—ध्रुवोपाख्यान	०.२५
९—लक्ष्मीनारायण मन्दिर (हिन्दी) छोटी	०.२५
१०— ,, (हिन्दी) बड़ी	०.५०
११— ,, (अंग्रेजी) छोटी	०.२०
१२— ,, (अंग्रेजी) बड़ी	०.५०
१३—परमात्मा क्या है	०.१२
१४—भगवान् बुद्धावतार	०.५०

English:—

1	Hindu Culture in Greater India Rs.	2-00
2	What is Supreme being	0-12

अन्य पुस्तकें

हिन्दू धर्म की विशेषताएँ	१.००

अखिल भारतीय आर्य (हिन्दू) धर्म सेवा संघ

पो० सेवा संघ, २५ मल्का गंज रोड,
जवाहर नगर, दिल्ली-७